ISSN 2229-6328

भाग - द्वात्रिंश : द्वितीय खण्ड

ॐ पावमानी

त्रैमासिक शोध पत्रिका

उपनिषदों में विविध विद्याएँ

ISSN २२२९-६३२८ UGC पत्रिका सूची संख्या ४०९५२

ओ३म्

प्रेरणास्त्रोत : प०पू० स्व० स्वामी समर्पणानन्द जी महाराज

पावमानी

त्रैमासिकी मूल्याङ्किता वैदिक-शोधपत्रिका

भाग : द्वात्रिंशत्, द्वितीय खण्ड
(चैत्र, वि०सं० २०७४)

उपनिषदों में विविध विद्याएँ

प्रधान सम्पादक

स्वामी विवेकानन्द सरस्वती

सम्पादक

प्रो० सोमदेव शतांशु **डॉ० वाचस्पति मिश्र**

परीक्षकत्व

प्रो० विक्रम कुमार विवेकी
पूर्व आचार्य, संस्कृत विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय

प्रकाशक

स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान
गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी, भोला, मेरठ- २५०५०१

अप्रैल २०१७ - जून २०१७ मूल्य १००.००

❖ एक प्रति का मूल्य	...	१०० रु.
❖ वार्षिक सदस्यता शुल्क	...	४०० रु.
❖ आजीवन सदस्यता शुल्क	...	२००० रु.
❖ आजीवन सदस्यता शुल्क (छात्रों के लिए)	...	१५०० रु.
❖ आजीवन सदस्यता शुल्क (संस्था के लिए)	...	५००० रु.
❖ सहयोगी सदस्यता शुल्क	...	५५०० रु.
❖ संरक्षक सदस्यता शुल्क	...	१०००० रु.
❖ परामर्शक सदस्यता शुल्क	...	११००० रु.

आभार

पावमानी के इस अङ्क का सम्पूर्ण व्ययभार आश्रम के प्रति एकनिष्ठ स्व० माता प्रकाशवती जी की प्रेरणा से रस्तौगी प्रकाशन, मेरठ, उ.प्र. ने वहन किया।

❖ स्वत्वाधिकारी, प्रकाशक, मुद्रक
स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान, गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी भोला, मेरठ- २५०५०१ (उ.प्र.)
दूरभाष : ९४११४२५६१४
ईमेल : **pavamani86@gmail.com**

❖ **पावमानी- ISSN २२२९-६३२८**
UGC पत्रिका सूची संख्या ४०९५२
भाग : द्वात्रिंशत्, द्वितीय खण्ड
अप्रैल २०१७-जून २०१७
(चैत्र, वि०सं० २०७४)

❖ अक्षरसंयोजन
दिव्यरञ्जन, विनीत
गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी, मेरठ

❖ मुद्रक
रस्तौगी प्रकाशन
मेरठ, (उ.प्र.)

❖ प्रेरणास्रोत :
प०पू० स्व० श्री स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती

❖ प्रधान सम्पादक
स्वामी विवेकानन्द सरस्वती

❖ सम्पादक
प्रो० सोमदेव शतांशु
दूरभाष : ०९८३७६४७४२७
डा० वाचस्पति मिश्र
दूरभाष : ०९३१९००२४०२

कल्पादितः १,९७,२९,४९११८ गते
सृष्टि-आदितः१,९५,५८,८५११८ गते
युगाब्द ५११९
दयानन्दाब्द १९४

विषय-सूची

१. उपनिषदों में दहर-विद्या १-८

डॉ० कन्हैयालाल पाराशर

२. ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम् ९-२४

डॉ० विजयलक्ष्मी:

३. उपनिषदों में वर्णित परा एवं अपरा विद्या २५-३१

डॉ० विनोद कुमार

४. छान्दोग्योपनिषद् में ओंकार का स्वरूप ३२-३६

डॉ० (श्रीमती) मधु सत्यदेव

५. उपनिषत्साहित्य में अभिव्यक्त आर्थिक संसाधान ३७-४६

डॉ० रामरतन खण्डेलवाल

६. त्रैतवाद - मुण्डकोपनिषद् के परिप्रेक्ष्य में ४७-५४

डॉ० अभिमन्यु

७. उपनिषदों में ब्रह्मतत्त्व-विमर्श ५५-६६

डॉ० रवि प्रभात

८. उपनिषदों में जीवतत्त्व निरूपण ६७-७६

डॉ० सुरेन्द्र कुमार

चर्चित कुमार

९. शाङ्करभाष्यसन्दर्भे प्रश्नमाण्डूक्योपनिषदोः प्रणवस्वरूपविमर्शः ७७-८४

वेंदाशुः

१०. उपनिषत्सु प्राणतत्त्वम् ८५-९३

प्रवीणशर्मा

११. उपनिषदों में वर्णित योगविद्या ९४-१००

हेमन्त शर्मा

सम्पादकीयम्

अनन्त आनन्द एवं अखण्ड शक्ति की प्राप्ति प्राणिमात्र की शाश्वत अभिलाषा है। असत्य से सत्य की प्राप्ति, अज्ञान तमस् से उठकर चित्त को आह्लादित करने वाली अजस्र ज्योति की उपलब्धि, अनित्य वस्तुओं की क्षणभंगुरता के क्लेश से मुक्त होकर नित्य तत्त्व की खोज तथा सर्वस्वहारक मृत्युकष्ट को विनष्ट कर अमरत्व की प्राप्ति ही हम सभी का अन्तिम उद्देश्य है। जाने अनजाने में हम सभी अपनी-अपनी बौद्धिक क्षमता एवं सामर्थ्य के अनुसार इसी मार्ग पर अग्रसर हो रहे हैं। जैसे सरिता पर्वत गड्ढे आदि को लांघती हुई सागर में समाहित होकर ही विश्रान्त होती है, वैसे ही हम भी विभिन्न योनियों में सुख-दुःखादि विविध द्वन्द्वों से जूझते हुए एक-एक पद उसी परमानन्द सागर की ओर गतिमान् हो रहे हैं। परम आनन्द की प्राप्ति में तथा दुःखद्वन्द्वों के विनाश में उपनिषद् साहित्य अनन्य सहायक हैं तथा सहज, सरल एवं निभ्रान्तपथ का प्रदर्शक है। तत्त्वदर्शी गुरुओं के सानिध्य में वैराग्य मुमुक्षुत्व आदि भावनाओं से अभिषिक्त होकर अज्ञानरूप संसार बीज का सुनिश्चिततया विनाशकर ब्रह्म को प्राप्त कराने वाले शास्त्र का नाम उपनिषद् है।

उपनिषद् पराविद्या ब्रह्मविद्या प्रदायक पवित्र ज्ञान निधि है। उपनिषदों में यद्यपि प्रसंगानुसार विविध ज्ञान-विज्ञानों की चर्चा है तथापि आत्म-परमात्म-तत्व का विवेचन ही उपनिषदों का मुख्य प्रतिपाद्य है। उपनिषदों के ऋषियों के स्पष्ट निर्देश है कि यह शरीर एवं संसार चिरस्थायी नहीं है। हम सभी यह नित्य अनुभव करते हैं कि शरीर के किसी चेतन तत्त्व के निकल जाने पर इन्द्रियाँ, मन, प्राण सभी निष्क्रिय एवं जड़ीभूत हो जाते हैं। तो फिर हम उस चेतन तत्त्व को पाने का प्रयास क्यों नहीं करते, जिसके रहने पर सब कुछ रहता है और जिसके निकल जाने पर सब कुछ निकल जाता है। किसी भी शास्त्र का प्रतिपाद्य उसके प्रत्येक पृष्ठ पर प्रतिबिम्बित होता हुआ प्रतीत होता है। उपनिषदों

में हमें सर्वत्र यही दृष्टिगोचर होता है कि ब्रह्माण्ड में ब्रह्म ही सारभूत तत्त्व है न कि यह प्रकृति। उसी प्रकार शरीर में चेतन आत्मा ही श्रेष्ठ एवं सारतत्त्व है न कि यह जड़ शरीर। अत: उस आत्मतत्त्व की अनुभूति के लिए सभी को यत्न करना चाहिए। जैसे भौतिक वैज्ञानिक विविध साधनों से भौतिक जगत् के पदार्थों का परीक्षण कर उसके यथार्थ स्वरूप को उपस्थापित करने का प्रयास करते हैं, उसी प्रकार अध्यात्मवादी ऋषियों ने परीक्षण करके अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञा से आत्मा परमात्मा के यथार्थ स्वरूप को उपनिषदों में विवेचित किया।

उपनिषदों के मर्म को हृदयंगम करने के लिए हमें एक अन्य सूत्र पर भी ध्यान केन्द्रित करना होगा। **यत्ब्रह्माण्डे तत्पिण्डे** अर्थात् जो कुछ इस विशाल ब्रह्माण्ड में है, वही सब कुछ इस छोटे से पिण्ड में भी है। इस सिद्धान्त को उपनिषदों में स्थान-स्थान पर अथाधिदैवतम् अथाध्यात्मम् कहकर स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। इसका आशय यह है कि जो सिद्धांत ब्रह्माण्ड में जिस प्रकार लागू है, इस शरीर में भी उसका स्वरूप उसी रूप से अवगन्तव्य है अर्थात् ब्रह्माण्ड (Macrocosm) तथा पिण्ड (microcosm) की एकरूपता को जान लेने से उपनिषदों का प्रतिपाद्य स्पष्ट हो जायेगा। इस सूत्र का अनुसरण कर हम उपनिषदों के गूढ़ रहस्यों को भी सुलझाने में समर्थ हो सकते हैं। वस्तुत: शरीर, मन एवं बुद्धि की प्रत्येक गतिविधि के पीछे चेतन तत्व आत्मा का ही प्रकाश परिलक्षित हो रहा है। अत: इन क्रियाकलापों के पीछे उस चेतन तत्त्व को अनुभूत किया जा सकता है, कहीं बाहर जाने की आवश्यकता नहीं है। इसी प्रकार इस ब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु के पीछे वह विधाता दृष्टिगोचर हो रहा है, उसकी सत्ता को अनुभूत किया जा सकता है और इस सच्चिदानन्द स्वरूप परमतत्त्व को जानकर समस्त संशय सन्ताप आदि नष्ट हो जाते हैं।

अमृत विद्या प्रदायक इस उपनिषद् ज्ञान गंगा का प्रवाह भारत के ग्राम-ग्राम, नगर-नगर में था। इसमें अवगाहन कर हमारे पूर्वज अमृतत्व की अनुभूति कर आनन्दित रहते थे तथा इस अनन्त सिन्धु का एक-एक बिन्दु जीवन के दुख-दर्द को दूर कर मृत्यु भय को दूर करने में समर्थ था। इस

प्रसंग में मानस पटल पर उपनिषदों के कुछ अमृतवर्षी वाक्य उद्भासित हो रहे हैं-

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीराः तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्॥

कठोपनिषद् 2/2/13

अर्थात् जो नित्यों में श्रेष्ठ नित्य, चेतनों में परमचेतन है, जो एक ही सभी की कामनाओं को पूर्ण करता है, जो व्यक्ति उसे अपनी-अपनी आत्मा के अन्दर अनुभव करते हैं, वही शाश्वत शान्ति को प्राप्त करते हैं, अन्य नहीं।

ब्रह्म को किस अवस्था में प्राप्त किया जा सकता है? उसको सरल शब्दों में व्याख्यायित करते हुए कठोपनिषद् का ऋषि कहता है- जब हृदयस्थ समस्त कामनाएँ क्षीण हो जाती हैं, तब मर्त्य अमृत होकर ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है-

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः।
अथो मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥ कठ0 6/4

आज परमात्मा के नाम पर धर्म, संप्रदाय के नाम पर कितनी हिंसा, कितना आडम्बर फैला हुआ है? इन सबका समाधान ऋषि एक वाक्य में कर रहे हैं-

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥

कठो0 1/1/1

आज की मारकाट, सामूहिक हिंसा, लूटपाट, व्यभिचार, बलात्कार, भ्रष्टाचार आदि की विषम परिस्थितियों में ऐतरेय उपनिषद् के पञ्चम अध्याय के द्वितीय ब्राह्मण में वर्णित प्रजापति का देवों मनुष्यों एवं असुरों को प्रदत्त द उपदेश विश्व की समस्त समस्याओं के समाधान का एकाक्षरी अमोघ मन्त्र है। उक्त प्रसंग का सार है- प्रजापति ने देवों की तपस्या से प्रसन्न होकर कहा- **दमध्वम्** अर्थात् दमन करो। जो दैवीशक्ति सम्पन्न व्यक्ति हैं, वे स्वेच्छाचार छोड़कर दमन करें, मनुष्य धनलिप्सा को त्यागकर दान करें, आसुरी प्रवृत्ति के लोग

हिंसा, मारकाट; परस्त्री, धनादि का अपहरण त्याग कर दया करें। उक्त द-दमन, दान एवं दया के पालन से विश्व में व्याप्त शक्तिशालियों का उपद्रव, कालाधन, भ्रष्टाचार, हिंसा, आतंकवाद, बलात्कार, सांप्रदायिक विद्वेष आदि समस्त समस्याएँ सहज ही दूर हो जायेंगी।

आज आवश्यक है कि श्री नरेन्द्र मोदी तथा विश्व के सभी राष्ट्राध्यक्ष शिक्षाव्यवस्था में उपनिषदों के अध्ययन को अनिवार्य करें तथा धर्माचार्यों द्वारा उपनिषदों की अमृतप्रदायिनी विद्या का सर्वत्र प्रचार-प्रसार हो। आज भारत की नई पीढ़ी की प्रत्येक भारतीय विद्या एवं वस्तु के प्रति उपेक्षाभाव या हेयदृष्टि है तथा विदेशी संस्कृति सभ्यता के प्रति आकर्षण है। उन्हें उपनिषदों के प्रति दाराशिकोह के प्रेम को स्मरण करना चाहिए, जिसने अपने राज्य एवं सम्प्रदाय आदि सबको तिलाञ्जलि देकर उपनिषदों के ज्ञानामृत पान करने एवं उसके प्रचार-प्रसार में जीवन समर्पित कर दिया। हमारे आधुनिक पढ़े-लिखे भौतिकता में आकण्ठ डूबे नवयुवक-नवयुवतियों को जर्मनी के विद्वान् **शॉपेनहावर** के ये वाक्य अवश्य स्मरण रखने चाहिएँ-

''अगर जीवन में मुझे किसी चीज से आत्मिक शान्ति मिली है तो उपनिषदों से और अगर मृत्यु के समय मुझे किसी चीज से शान्ति मिल सकती है तो उपनिषदों से''। जो भारतीयता पर गर्व करते हैं, उन्हें अपने पूर्वजों की इस अमृत विद्या के संरक्षण एवं प्रसार में तत्पर होना चाहिए।

स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान ज्ञान-विज्ञान के प्रचार-प्रसार में सतत संलग्न है। इसी क्रम में मकर सौर संक्रान्ति में ''**उपनिषदों में विविध विद्याएँ**'' विषय पर एक शोध संगोष्ठी का आयोजन किया गया, जिसमें भारत के अनेक मनीषी समवेत हुए। उनका उपनिषद्विषयक ज्ञानामृत पावमानी के माध्यम से आपके करारविन्दों में समर्पित है। इसका आस्वादन कर परमानन्द की अनुभूति करने का यत्न करें तथा उपनिषदों का यह वचन भी ध्यान में रखें- **नैषा मतिस्तर्केणापनेया।** उपनिषद् की यह अमृतविद्या केवल पढ़ने पढ़ाने का विषय नहीं है, यह अनुभूति का विषय है। परमात्मा से प्रार्थना है पावमानी का यह अंक आपको परमात्मा के अमृतमय अंक (गोद) की अनुभूति कराये। इन्हीं कामनाओं के साथ-

सोमदेव शतांशु

पावमानी मार्च २०१७ अङ्क ३२/२-३ ISSN २२२९-६३२८ UGC पत्रिका सं०४०९५२

उपनिषदों में दहर-विद्या

डॉ० कन्हैयालाल पाराशर[1]

धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों में मोक्ष को ही परम पुरुषार्थ कहा जाता है। मोक्ष की प्राप्ति तभी सम्भव है जब मानव को आत्मसाक्षात्कार हो जाए अर्थात् जब मानव अपने स्वरूप को जान लेवे। दूसरे शब्दों में आत्मदर्शन ही परमात्म दर्शन है। यह आत्मा प्रत्येक मानव के शरीर में रहती है। इस आत्मा को मानव-शरीर में कहाँ खोजा जाए; इसके लिए तत्वदर्शी महापुरुषों ने अनेक उपाय बताए हैं। ऋग्वेद काल से लेकर अद्यावधि काल तक सहस्रों ग्रन्थ ऐसे मिलते हैं जिनमें आत्मदर्शन के उपायों का वर्णन किया गया है। इन सब ग्रन्थों में उपनिषद् ग्रन्थों का विशिष्ट स्थान है। उपनिषदों में भी छान्दोग्य उपनिषद् ब्रह्मदर्शन का सर्वोत्तम उपाय बतलाती है। छान्दोग्य उपनिषद् में ब्रह्मविद्या को दहर विद्या कहा गया है।[2] छान्दोग्य उपषिद् के अनुसार इस ब्रह्मपुर (अर्थात् शरीर) में जो यह सूक्ष्म कमल-गृह (अर्थात् हृदय) है, और इसके भीतर जो सूक्ष्म आकाश (अर्थात् आत्मा का निवास-स्थान) है तथा उसके भी भीतर जो चैतन्य ज्योति है वह खोजने योग्य है। वह ही जानने योग्य है।[3] ब्रह्म की उपासना, आराधना मनुष्य-शरीर में ही होती है। अतः यह मानव-शरीर ही ब्रह्मपुर है। यह बल, शक्ति तथा तेज का स्थान है। श्वेताश्वेतरोपनिषद् में इस विषय का प्रतिपादन कुछ इस प्रकार से किया गया है कि अंगुष्ठमात्र (नाप)का यह अन्तर्यामी पुरुष (परमेश्वर) सर्वदा

---

[1] विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर

[2] छान्दोग्य उपनिषद् प्रपाठक ८, खण्ड पहला

[3] यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुर दहरं पुण्डरीकं वेश्य, दहरोऽस्मिन् अन्तराकाशस्तस्मिन् यद् अन्तस्तदन्वेष्टव्यं, तद् वाव विजिज्ञासितव्यमिति। छान्दोग्य उपनिषद् प्रपाठक ८, पहला खण्ड, मंत्र १

मानवों के हृदय में विराजमान है। हृदय में बैठे उस परम पुरुष को जान लेते हैं वे अमरपद प्राप्त कर लेते हैं[४] मन्त्र में उस परमात्मा को अंगुष्ठ प्रमाण वाला इस लिए बताया है क्योंकि मानव का हृदय अंगूठे के नाप का ही होता है और यही हृदय परमात्मा का वास-स्थान है।

सूतसंहिता जो स्कन्दपुराण के अन्तर्गत है उसमें भी दहरपुण्डरीक में ब्रह्मोपासना का विधान है। यह भी द्रष्टव्य है कि सूत संहिताकार ने तो स्वयं छन्दोपनिषद् की उपजीव्यता स्वीकार कर ली है। सूतसंहिता में यह श्लोक मिलता है-

छान्दोग्यश्रुतिमस्तके विनिहितं विज्ञानमेतन्मया,
जन्तूनामविवेकिनामतितरामज्ञानविध्वस्तये।
कारुण्यादमराधिपतिशुभब्रह्मामृतावाप्तये,
देवानामधिपाधियस्य वचनादुक्तं महेशस्य च।।[5]

उपनिषद् तथा सूतसंहिता के टीकाकार इन दोनों का उद्देश्य समाप्त होने पर भी जहाँ तक दहर पुण्डरीक के वर्णन की बात है सूतसंहिता छान्दोग्य उपनिषद् के मन्त्रों की अनुवादकमात्र ही बन कर रह जाती है। सूतसंहिता में इस विषय के वक्ता ब्रह्मा हैं[६]और इसमें दहरपुण्डरीक विषय ही प्रतिपाद्य हैं।

छान्दोग्य उपनिषद् के दहर-सम्बन्धि प्रथम मन्त्र में जिस तत्व के अन्वेषण और उसे जानने का उपदेश हुआ है ब्रह्मतत्व का नाम निर्देश

---

[४] अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।
..... य एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति। श्वेताश्वतरोपनिषद् ३.१३

[५] सूत संहिता ४.१.६.५८

[६] सूत संहिता मीमांसा। ले.डा. रमाकान्त का पृ. १९४-९५

नहीं किया है। सूतसंहिता के प्रथम श्लोक में भी उस तत्व का नामोल्लेख नहीं मिलता। किन्तु दूसरे श्लोकों में उस तत्व को सच्चिदानन्द शिव कहा है। वही ब्रह्म का शिव-स्वरूप है और वही अन्वेष्टव्य है। छान्दोग्योपनिषद् के प्रथम मन्त्र और सूतसंहिता के प्रथम श्लोक में परस्पर मिलता है। संहिता के टीकाकार के अनुसार ब्रह्मपुर का अर्थ है- दहर विद्या के अधिकारी साधक का शरीर दहर का अर्थ है- अंगुष्ठ के प्रमाण (नाप) वाला हृदय-कमल और वहाँ हृदय-कमल आकाश में श्रुति से जानने योग्य तत्व सच्चिदानन्द स्वरूप है। आकाश शब्द का भी स्वयंप्रकाश ब्रह्म के लिए प्रयोग हुआ है। इसमें ब्रह्मसूत्र का प्रमाण है-**आकाशस्तल्लिङ्गात्।**[७]

छान्दोग्योपनिषद् के अपने भाष्य में श्री शंकराचार्य ने दहरपुण्डरीक के प्रसंग में ही तथ्यपूर्ण बात कही है। आचार्य शंकर के कथन का आशय कुछ इस प्रकार है- "यद्यपि छठे और सातवें अध्यायों में दिग् देशादि से रहित अद्वितीय ब्रह्म है **"आत्मेवेदं सर्वम्"**[८] ऐसे जाना गया है। तथापि, दिग्देशादि-सहित वस्तु है ही, ऐसी भावना से युक्त सगुणस्वरूप मानने वाले मन्दबुद्धि पुरुषों की मति सहसा परमार्थ के विषय में आसक्त नहीं हो पाती! फिर भी ब्रह्मज्ञान के बिना पुरुषार्थ-सिद्धि असम्भव ही है। उसके अनुभव के निमित्त हृदय-कमलरूप प्रदेश का उपदेश आवश्यक होता है। दिग्-देश-गुण-गति-फल-भेदशून्य जो परमब्रह्म है वह निर्गुण ब्रह्म मन्दमति साधकों असत् ही प्रतीत होता है। वस्तुतः निर्गुण आत्म-तत्व

[७] ब्रह्मसूत्र अ. १ पा.१ सू. २२ तथा आकाशशरीरं ब्रह्म। तैत्तिरीयोप० १.६.२

[८] छान्दोग्य उपनिषद् प्रपाठक ७, खण्ड २५, मंत्र २ तथा अयम् आत्मा ब्रह्म। नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषद् १.२

तो ज्ञान का विषय है। किन्तु, मन्दबुद्धि लोगों को सगुण ब्रह्म ही
होता है। अतः उस आत्मतत्व का सत्य-संकल्पादि गुणरूप में प्रतिपा
भी आवश्यक है। ऐसे मन्दबुद्धि साधक सत्पथ में स्थित हो सकें अ
उन्हें धीरे-धीरे परमार्थ सत् का उपदेश करना चाहिए।

आचार्य शंकर के उपर्युक्त कथन का आशय यही है कि साध
को प्रथमावस्था तें सगुण ब्रह्म का तथा फिर आगे क्रमशः निर्गुण ब्रह्म
उपदेश देना चाहिए।

ब्रह्म के सगुण रूप का उल्लेख बृहदारण्यकोपनिषद् में कुछ
प्रकार किया है-

" इदमेव मूर्त्तं (ब्रह्मणो रूपम्) यदन्यत् प्राणाच्च यश्चायमन्तरात्मन्नाकाशः"।[९]

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चामूर्तं च। अथ यन्मूर्तं तदस यदमूर्तं तदसत्यमिति।[१०]

आत्मा घटाकाश है और परमात्मा महाकाश ऐसी उपमा दी
है।[११] इस आत्मा में ही निखिल ब्रह्माण्ड ओत-प्रोत है।[१२]छान्दोग्योपनि
की हिन्दी में यह पक्ष उपस्थित किया है कि- हृदय-कमल को ब्रह्म
महान् धाम मानकर स्वसत्ता की जागृति के लिए वहाँ धारणा करना
सत्य, नित्य, शुद्ध, चैतन्य, शक्तिस्वरूप स्वात्मा का चिन्तन करना
दहरोपासना है। इससे प्रसुप्त आत्मभाव जग जाता है आत्मभाव के ज

---

[९] बृहदारण्यकोपनिषद् २.३.४

[१०] मैत्रायणी उपनिषद् ६.३

[११] नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषद् १.२.३ बृहदारण्यकोप. २.५.१९

[१२] असंगोऽयमात्मा। नृ.ता.उ. ९.१५

पर इस व्यष्टिगत हृदयचक्र में ही समष्टि जगत् के चमत्कार भाव तथा प्रतिबिम्ब प्रतीत होने लगा करते हैं।[१३] जितना ही यह आकाश है उतना ही यह अन्तर्हृदयाकाश है।[१४]

इस आत्मज्योति में दोनों द्यौ और पृथिवी भीतरी ही अच्छी प्रकार से प्रतिबिम्बित है, दोनों अग्नि और वायु, दोनों सूर्य और चन्द्रमा, बिजली और नक्षत्र इसमें समाहित हैं। ब्रह्मविद्या के साधक का इस संसार में जो कुछ भी ज्ञान है और जो ज्ञान नहीं भी है वह ज्ञाताज्ञात सब इस आत्मा में भली प्रकार निहित है। हृदय वह केन्द्र है जहाँ शब्द रूप आदि सब विषय अंकित हैं।[१५] छान्दोग्योपनिषद् में पूर्वपक्ष में यह शंका उठायी गई है कि- 'इस ब्रह्मपुर में यदि यह सब समाहित है तो जब इस देह को वृद्धापन प्राप्त होता है और जब शरीर नष्ट हो जाता है तो उसके बाद क्या शेष रह जाता है।[१६] उत्तरपक्ष में इस शंका का समाधान किया गया है कि ''शरीर के जीर्ण होने पर भी ब्रह्मपुर स्थित आत्मा जीर्ण नहीं होता। शरीर का नाश होने पर भी आत्मा का नाश नहीं होता। हृदय में विराजमान यह आत्मा जरा-रहित है, मृत्यु-रहित है, शोक-रहित है, क्षुधा-पिपासा भी इस आत्मा को नहीं व्यापते।[१७]

---

[१३] अध्यात्मोपनिषद्-७

[१४] यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमथोतम्। मुण्डकोपनिषद् २.२.५

[१५] एकादशोपनिषत्संग्रह। स्वामी सत्यानन्द टीका, पृ. २५३

[१६] यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तहृदयाकाशः। छान्दोग्योप. ८.१.३

[१७] छान्दोग्योप. ८.१.३

जिस प्रकार सम्पूर्ण आकाश कहीं नहीं जाता वैसे ही अपने आत्माराम जो विभुत्व है उसको जानने वाला कहीं नहीं जाता।[१८]

श्रीमद्भगवद्गीता जो सब उपनिषदों का सार ग्रन्थ है उसमें कहा गया है कि जिस प्रकार अतिसूक्ष्म होने के कारण आकाश तेज, जल, पृथिवी आदि में सर्वत्र व्यापक होता हुआ भी रूप-रस गन्धादि द्वारा लिप्त नहीं होता। इसी प्रकार देह में सर्वत्र विद्यमान आत्मा प्रकृति के गुणों में लिप्त नहीं होता।[१९]

मुण्डकोपनिषद् हमें बताती है कि- वह अविनाशी भगवान् दिव्य अमूर्त पुरुष है। वह संसार के बाहर भीतर विद्यमान अजन्मा है। वह प्राण और मनोवृत्ति से रहित है, शुद्ध है और वह उत्कृष्ट पद से भी ऊपर है।[२०]

परम ब्रह्म, परम पिता, परमेश्वर का साक्षात्कार कैसे हो सके इसके लिए ध्यान की विधि ऋषि ने यह बतायी है कि उपनिषद् में वर्णित ब्रह्मविद्या महा-अस्त्र रूप धनुष को पकड़ कर, उसमें उपासना-रूप तीखा तीर लगा कर, परमेश्वर में तन्मय चित्त से धनुष को खींच कर उस अविनाशी लक्ष्य को बींधो।[२१] इसी ध्यान-विषय को दुहराते हुए अंगिरा-ऋषि कहते हैं -भगवान् का ओम् नाम (प्रणव) धनुष है, अभ्यासी साधक का आत्मा बाण है और ब्रह्म वह लक्ष्य है। प्रमाद का त्याग करके सावधानीपूर्वक लक्ष्य को बींधना चाहिए। लक्ष्य में बाण की

---

[१८] वही ८.१.४

[१९] वही ८.१.५

[२०] ब्रह्मगीता ७.८०-८१

[२१] श्रीमद्भगवद्गीता १३.३२ सामर्पण भाष्य

भाँति साधक नाम-ध्यान में तन्मय हो जाने अर्थात् नाम (ओ3म्) ध्वनि में अपनी वृत्ति को जोड़े।[२२] रथ की नाभि में अरों की भांति जहाँ नाड़ियाँ जुड़ी हुई हैं वहाँ हृदय में वह आत्मा, अनेक विकासों में भीतर प्रकट होता है। ओ3म्-ओ3म् का अजपा-जप करते हुए उस प्रभु का स्मरण करो। अज्ञात अन्धकार से परे पार उतारने के लिए तुम्हारा कल्याण हो।[२३]

वायवीय संहिता को उद्धृत करते हुए दहरविद्याप्रकाशिका ग्रन्थ में कहा गया है कि-

ध्याता ध्यानं तथा ध्येयं यच्च ध्यानप्रयोजनम्।
एतच्चतुष्टयं ज्ञात्वा ध्याता ध्यानं समाचरेत्॥[24]
यस्मात् सौख्यं च मोक्षं च ध्यानादुभयमाप्नुयात्।
तस्मात्सर्वं परित्यज्य ध्याननिष्ठो भवेन्नरः॥[25]

(अर्थात् ध्याता, ध्यान, ध्येय और प्रयोजन इन चारों बातों को जानकर ही साधक को ध्यान में बैठना चाहिए। सब प्रकारक सुख और मोक्ष ध्यान से मिलता है। अतः ईश्वर का ध्यान तो सब अन्य काम छोड़कर करना चाहिए। मानव जीवन की सार्थकता इसी में है।)

परमात्मदेव दार्शनिक विज्ञान से अगम्य है। वह तर्क से भी जाना नहीं जाता। उसकी प्राप्ति के साधन तो सदाचार, शान्ति, निश्चय और परमात्मा में विश्वास हृत्कमल में ध्यान हैं। ध्यान भी अटूट, अखण्ड होना

---

[२२] मुण्डकोपनिषद् २.१.२
[२३] मुण्डकोपनिषद् २.२.३
[२४] मुण्डकोपनिषद् २.२.४
[२५] मुण्डकोपनिषद् २.२.६

चाहिए।[२६] ध्यान कहाँ लगाएं? इसके लिए छान्दोग्य का निर्देश है कि- आत्मा हृदय में है, उसका यह ही निर्वचन है। हृदय में यह आत्मा है इसी कारण हृदय कहा गया है। हृदय ही आत्म-ज्योति का केन्द्र है। यह आत्मा ही परम ब्रह्म है।[२७]

अतः आपसे हृदय-कमल में **ओ३म्** इत्येकाक्षर ब्रह्म का ध्यान करना ही उपनिषदों की दहर-विद्या समझनी चाहिए।

❑

---

[२६] दहरविद्या प्रकाशिका पृ. १०

[२७] वही पृ. ११

पावमानी मार्च २०१७ अंक ३२/२-३ ISSN २२२९-६३२८ UGC पत्रिका सं. ४०९५२

ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम्

डॉ० विजयलक्ष्मी:[१]

महर्षिपतञ्जलिना विरचितस्य योगदर्शनस्य **तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्** (१.१६) सूत्रस्य भाष्यं भावयन् भगवान् भाष्यकार आह- **ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम्, एतस्यैव हि नान्तरीयकं कैवल्यमिति।** महाभारतकारेण समीचीनमुदीरितमस्मिन् प्रकरणे-

वैराग्यं पुनरेतस्य मोक्षस्य परमो विधिः।

ज्ञानादेव च वैराग्यं ज्ञायते येन मुच्यते। शान्ति. ३२०.२९

अर्थात् मुक्तेः उत्तमोपायो वैराग्यम्, येन वैराग्येण जनो लभते मुक्तिं तच्च वैराग्यं ज्ञानादेव भवति। तथा-

निर्वेदादेव निर्वाणं न च किञ्चिद् विचिन्तयेत्।

सुखं वै ब्रह्मणो ब्रह्म निर्वेदेनाधिगच्छति। शान्ति. १८९.१

आदौ तावत् विचारयामः किं नाम ज्ञानमिति अथ च ज्ञानमिति पदेन कोऽभिप्रायः? **ज्ञा अवबोधने** धातोः भावे ल्युट् विहिते नपुंसकलिङ्गे पदस्यास्य निष्पत्तिर्जायते। ज्ञानपदस्यार्थविचारचर्चायाम् अमरकोषकारस्य मतमुपादेयम्, तद्यथा-

मोक्षे धीज्ञानम् अन्यत्र विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोः।

मुक्तिः कैवल्यनिर्वाणश्रेयोनिःश्रेयसामृतम्।

मोक्षोऽपवर्गः अथाज्ञानमविद्याहंमतिः स्त्रियाम्।

(प्रथम काण्डम्, धीवर्गः ५.६.७)

---

[१] **प्रवक्त्री एस.डी. महाविद्यालयः, मुजफ्फरनगरम्**

अर्थात् मोक्षविषयणी बुद्धिः ज्ञानम्, आध्यात्मिकी विचारणा। किं ज्ञानमिति विज्ञापयता निगदितं गीताकारेण-

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।

एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा। १३.११

अर्थात् नित्याध्यात्मज्ञाने स्थितिः, तत्त्वज्ञानार्थरूपस्य परमात्मनः दर्शनं ज्ञानमुच्यते, विषयममुं विहाय यदपि ज्ञानं तदज्ञानमेव। ज्ञानपदं स्पष्टीकुर्वता वामनशिवरामआप्टेवर्येणाभिहितम्- **परमज्ञान, विशेषकर उस धर्म और दर्शन की ऊंची सच्चाइयों पर मनन से उत्पन्न ज्ञान जो मनुष्य को अपनी प्रकृति या वास्तविकता को जानना तथा आत्मसाक्षात्कार या परमात्मा से मिलने की बात सिखलाता है। ज्ञानयोगः- सच्चा आत्मज्ञान प्राप्त करने या परमात्मानुभूति प्राप्त करने का मुख्यसाधन।** संस्कृत-हिन्दीकोश, छात्र संस्करण, पृ.४१०, नाग प्रकाशक, जवाहर नगर, दिल्ली-७

यदा जीवस्य जीवने मोक्षविषयकं चिन्तनं चलति, आध्यात्मिकं विषयमादाय अध्ययनं मननं निदिध्यासनञ्चाचर्यते जिज्ञासुना, विधिनानेन अधीतं श्रुतं, विचारितं शास्त्रं विषयो वा ज्ञाननाम्ना निगद्यते। ज्ञा इत्यस्य धातोः प्रयोगः आचार्यवरेण पाणिनिना अवबोधार्थे कृतः। अवबोधपदे मूलधातुः वर्तते **बुध अवगमने** (दिवादि. अ.) अर्थात् सम्यक् बोधः। **बोधः- प्रत्यक्षज्ञान, प्रज्ञा, चेतनता, जागरूक होना, विचार, चिन्तन** आदयः अनेके अर्थाः बोधपदस्य वामनशिवरामआप्टे- महोदयेन मताः। बुद्धत्वं गतः परं पदं प्राप्तः। **बोधरात्रिः-** यस्मिन् काले बालस्य मूलशंकरस्य शिवविषयकं सामान्यचिन्तनं बोधरूपेण परिवर्तितम्, यदस्य भगवतः केवलं नेदमेव स्वरूपम्, अस्य परमेष्ठिनः परमात्मनः परंपारं प्राप्तुं प्रार्थनायै पालनीयः पथः अमर एव। एवंविधाः द्विविधाः विचाराः

विमृष्टाः विमलमतिना मूलशंकरेण। मोक्षमार्गमार्गणतत्परस्य तथा चात्मना सहैव संसारदुःखसागरे निमग्नानामसंख्यमानवानां ज्ञानप्लवमाध्यमेनोद्धर्तुः, दयायाः आनन्दस्य च प्राप्तुः प्रापयितुः दयानन्दस्यायं बोधः बोधरात्रिरूपेण प्रथितः। प्रबुद्धाः जनाः प्रयोगेणानेन ध्वन्यते यत् लौकिककर्त्तव्यकर्मसु जागरूकाः जनाः इति। इदं वाक्यत्रयमवलोकयामश्चेदत्र सूक्ष्मात् स्थूलार्थं प्रति बोधशब्दस्य यात्रेति प्रतीतिर्जायते। एवं ज्ञानपदस्य भावं प्रस्फुटीकरणायं प्रयुक्तानि पदानि विशेषतया सूक्ष्मार्थस्य द्योतकानीति कथयितुं शक्यते। अमरकोषकारेण ज्ञानस्य विपरीतार्थे अज्ञानम्, अविद्या, अहंमति इत्यादीनि पदानि पठितानि, अनेन स्पष्टं भवति यत् विद्यापि अध्यात्मज्ञानस्य पर्यायवाचित्वेन गृह्यते, यथा-

मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम्।
ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युरन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव।

कठोपनिषद् २.३.१८

आशयोऽयं यथा विद्यामिमामुपास्य योगविधिञ्चावगम्य नचिकेता ब्रह्म अधिगतवान् तथैव यः कोऽपि साधकः मार्गमेनमनुसरति सोऽपि ब्रह्म समश्नुते। अथ च-

विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः परागताः।
न तत्र दक्षिणा यान्ति नाविद्वांसस्तपस्विनः। शतपथब्राह्मणम् १०.४.४.१६

विद्यां कथं प्रशंसन्तीति जिज्ञासायामेकत्र उच्यते यत् लोकेषु श्रेष्ठस्य देवलोकस्य श्रेष्ठताया, उच्चतायाः कारणं विद्यैव- **विद्यया देवलोको वै लोकानां श्रेष्ठस्तस्माद्विद्या प्रशंसन्ति।** (बृहदारण्यकम् ९.१६, पुरुषार्थप्रकाशः पृ. १२, स्वामी विश्वेश्वरानन्दः, ब्रह्मचारी नित्यानन्दः)। अपि च महाभारते पठामः-

ज्ञानान्मोक्षो जायते राजसिंह नास्त्यज्ञानादेवमाहुर्नरेन्द्र।
तस्माज्ज्ञानं तत्त्वतोऽन्वेषितव्यं येनात्मानं मोक्षयेज्जन्ममृत्योः। शान्ति.३१८.८७

एवं ज्ञानं मोक्षार्थक इति निश्चिते जाते अस्याः त्रिविधतापनिवारिण्याः विद्यायाः अध्येतारः के भवितुम्मर्हन्ति? इति विमृशामस्तावत्। **सबको शिक्षा अथवा सबको एक समान शिक्षा** इति लोकसरणिमनुसरामश्चेत् विद्यायाः कृते अर्हता इति कथनं प्रथमदृष्ट्यानुचितमिव प्रतिभाति, परं विचार्यमाणे स्पष्टीभवति यत् **सबको शिक्षा** अस्याभिप्रायो वर्तते- **सर्वेषां कृते अक्षरज्ञानम्, अथ च विविधविषयाणां सामान्यपरिचयः।** तैत्तिरीयोपनिषदि यदुक्तं तदपि अवधेयमस्मिन् प्रसंगे-

शिक्षां व्याख्यास्यामः। वर्णः स्वरः। मात्रा बलम्। साम सन्तानः।

तैत्तिरीयोपनिषद् वल्ली १, अनुवाकः २

अपि च महर्षिः अङ्गिरा शौनकमुनिं प्रति कथयति- **द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च। तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।** मुण्डकोपनिषद् १.१.४,५

अपराविद्यायां परिगणिते शिक्षाभिधेये वेदाङ्गेऽपि वर्णानामुच्चारणस्थानानि पाठ्यन्ते। अनेनैव विशिष्टविषयशिक्षणाय लौकिकजीवने आजीविकार्जनाय च विश्वस्मिन् विश्वे विविधाः विशिष्टाः कठिनाश्च प्रतियोगिता आयोजिता भवन्ति। आदौ आकांक्षिते विषये परीक्षायाः मूले प्रधानतः कारणद्वयमासीत्, प्रथमं तत्र व्यक्तिविशेषस्य विषयविशेषे कियती रुचिरिति परीक्षणम्, अपरञ्च परीक्षार्थी विषयस्य मूलमभिजानाति न वा, यतोहि सामान्यतया सर्वेषामपि विषयाणां पाठ्यक्रम उत्तरोत्तरं गाम्भीर्यमुपैति।

तादृश्यामवस्थायां मूलेनानभिज्ञ अध्येता विषयावबोधे काठिन्यमनुभवति। अस्मिन् प्रकरणे नैकानि कष्टकरणानि उदाहरणानि सर्वैः प्रत्यक्षं दृश्यन्ते, श्रूयन्ते, अनुभूयन्ते च। एतादृशीनां घटनानाम्मूलमन्विष्यते चेत्तदा नैकानि कारणानि दृष्टिपथमायान्ति, परं प्रायशः रुचिविषये योग्यताविषये च कालसापेक्षा वर्तते तत्रापि इयती जागृतिः अपेक्षिता चेद् तदा यस्याः विद्यायाः, यस्याचरणस्य, यस्य ज्ञानस्य कार्यं जन्मजन्मान्तरेषु वासनारूपेण, संस्काररूपेण, स्वभावरूपेण जायमानानां, दृढ़ीभूतानां क्लेशानामशुद्धीनामपाकरणं वर्तते तत्र अधिकारिणामध्येतृणां परीक्षणं सर्वथा सार्थकमित्यत्र नास्ति वैमत्यं मतिमताम्।

अध्यात्मज्ञानस्य विद्यायाः वा अधिकारिणः-आचार्ययास्केन निर्दिष्टा आचार्याः-

यमेव विद्याः शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्।

यस्ते न द्रुह्यात् कतमच्चनाह तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन्।

निरुक्तवृत्तिः २.४ पृ.३०४, सम्पादकः प्रो. ज्ञानप्रकाशशास्त्री, परिमलप्रकाशनम्, प्रथमं संस्करणम्, शक्तिनगरम् देहली- ७

अर्थात् यः कोऽपि भवेच्छुद्धः, अप्रमादी, मेधायुक्तः, ब्रह्मचर्ययुक्तश्च, सहैव आचार्यं प्रति सम्यक् व्यवहरेत्, एतादृशाय विद्याक्षरकाय विद्या प्रदेया। कस्मै विद्या न प्रदेया इत्युपदिष्टं तत्र, तद्यथा-

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।
असूकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्।
अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा।
यथैव ते न गुरोर्भोजनीयास्तथैव तान्न भुनक्ति श्रुतं तत्।

तत्रैव २.१,३

निरुक्तशास्त्रस्य पाठकस्य योग्यतां ज्ञापयताभिहितं यास्काचार्येण- **नावैकरणाय, नानुपसन्नाय, अनिदंविदे........** अर्थात् भवेन्नाम सः अन्यशास्त्रज्ञः परं यदि निरुक्तशास्त्राध्ययने तस्य सामर्थ्यं नास्ति तस्मै इदं शास्त्रं न निब्रूर्यात्। गीताकारेणापि निर्दिष्टः यः भक्तः, सेवानिरतः, श्रद्धावान्, अनसूयकश्च भवेत् तथाविधतपस्विने इदं ज्ञानं प्रदेयम्।[२] अपि च-

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥
श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥ गीता ४.३४,३९

गीतानुसारं नम्रतायुक्तेन, श्रद्धासमन्वितेन, सेवासंवलितेनापि शिष्येण नानाविधाः प्रश्नाः प्रष्टव्याः, जिज्ञासुना स्वकीयजिज्ञासानां, सन्देहानां समाधानार्थं सर्वथा सेवनीया सदाचार्याः। शिष्याणां बहुविधाः जिज्ञासाः आचार्येण समाधेयाः, अनेनेति तु निश्चप्रचं वक्तुं शक्यते यदाचार्यो भवेत् प्रायशः सर्वशास्त्रवित्। महामतिवेदव्यासमते अध्येतृगुणाः-

नाशिष्ये सम्प्रदातव्यो नाव्रते नाकृतात्मनि।
एते शिष्यगुणाः सर्वे विज्ञातव्या यथार्थतः। शान्ति.३२७.४५

महाभारतकारमते तु श्रद्धिनं जन्ममृत्यू न प्रविशतः। यथाह- **प्राप्य ज्ञानं ब्राह्मणात् क्षत्रियाद् वा वैश्याच्छूद्रादपि नीचादभीक्ष्णम्। श्रद्धातव्यं श्रद्दधानेन नित्यं न श्रद्धिनं जन्ममृत्यू विशेताम्** (शान्ति.३१८.८८)। अर्थात् श्रद्धालुः गुरुवचांसि सम्यक् पालयति। अधीतशास्त्राणामाचरणेन पठिता विद्या व्यवहारे

[२] गीता १८.६७,७१

आगच्छति येन प्रकृतिसम्बद्धान् समस्तान्नपि रहस्यान्नवगच्छति अतः तस्य कृते जन्ममृत्यू आश्चर्यं नोत्पादयतः अपितु सामान्यक्रमः सृष्टिप्रक्रियायाः। अनेन श्लोकमाध्यमेन उद्‌बोधिताः लोकाः विदुषा वेदव्यासेन यत् विद्यादानाय, ज्ञानार्जनाय, अध्यापनाय, पाठनाय, शास्त्रानुशीलनाय न कस्यापि वर्णविशिष्टस्य जना एव निर्धारिताः, अतः योऽपि विद्यावान्नाचारवान् तमुपगच्छेत् श्रद्धया सः पाठनीयः। कथितञ्च-

तस्माज्ज्ञानं सर्वतो मार्गितव्यं सर्वत्रस्थं चैतदुक्तं मया ते।
तत्स्थो ब्रह्मा तस्थिवांश्चापरो यस्तस्मै नित्यं मोक्षमाहुर्नरेन्द्र। शान्ति.३१८.९२

अध्यात्मज्ञानजिज्ञासा कस्य मनसि जायत इति जिज्ञासायाम् अतीवसमीचीनम् उच्यते- **विशुद्धसत्वस्य तु निष्कामस्य एव बाह्यादनित्यात् साध्यसाधनसम्बन्धात् इह कृतात् पूर्वकृताद् वा संस्कारविशेषोद्‌भवात् विरक्तस्य प्रत्यगात्मविषया जिज्ञासा प्रवर्तते।।**

केनोपनिषद् १.१, शाङ्करभाष्यम्

अनेनापि सिध्यति यत् न सर्वैः विद्येयं ज्ञानमिदं वा अध्येयमध्यापनीयं शक्यम् यतोहि प्रत्यक्षरूपेण दृश्यते अनुभूयते च यदध्यात्मज्ञानस्य जिज्ञासवः स्वल्पः एव सन्ति संसारे। ऋषिभिरपि मार्गोऽयं दुर्गमो निर्दिष्टः- **क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति।** कठोपनिषद् १.३.१४

महर्षिपतञ्जलिना साधनाभिधः द्वितीयपादः योगविषये, साधनसोपाने, अध्यात्ममार्गे प्रवेशोत्सुकानां सामान्यजनानां कृते विरचितः, तत्र द्वितीयपादारम्भ एव भाष्यकारेण ज्ञापितम्- **उद्दिष्टः समाहितचित्तस्य योगः, कथं व्युत्थितचित्तोऽपि योगयुक्तः स्यादित्येतदारभ्यते।** योगदर्शनम् २.१तः पूर्वम्

अध्यात्मपथप्रवेष्टुकामेन, योगमार्गान्वेषिणा कल्याणेप्सुना किं करणीयं जनेनेति प्रतिपादयितावादि ऋषिणा- **तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः** (योग०२/१)। **अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्** (योगदयर्शन २.४)। अविद्या निवारणमतीव दुष्करं कार्यम्, कथं निवृत्ता भवेदियमविद्या इत्ययं यक्षप्रश्नः मनीषिभिः बहुधा विमृष्टः। विषयेऽस्मिन् कथयति गीताकारः-

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्। ५.१६

अपि च-

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः। ५.१७

अर्थात् ईश्वरं प्रति समर्पणं विधाय तथा ज्ञानेन निर्मलीभूय जनः संसारचक्रात् मुक्तिमुपैति। पुनः स एव प्रश्नः अविद्या अज्ञानं वा कथं नश्येत् ज्ञानावाप्तिश्च कथं स्यात्? अस्मिन् सन्दर्भे मुनेः पतञ्जलेः मतमवधेयम्, तैरुक्तं संसारस्य सर्वासां समस्यानां स्रोतः समुदीरितम्- **अज्ञानम्, अविद्या**। अतः अज्ञाननिराकरणाय, अविद्याविनाशाय ज्ञानं ज्ञेयम् विद्या च अवगन्तव्या। अविद्यास्वरूपं विज्ञापयता तेनोक्तम्- **अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या**(योग:..२.५)।अनित्येषु नित्यज्ञानम् अभिनिवेशाख्ये क्लेशे जायते। **स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः** (योग.२.९) सूत्रस्य व्यासभाष्ये लिखितम्- **सर्वस्य प्राणिन इयमाशीर्नित्या भवति, मा न भुवं भूयासस् इति।.... यथा चायमत्यन्तमूढेपु दृश्यते क्लेशस्तथा विदुषोऽपि विज्ञातपूर्वापरान्तस्य रूढः, कस्मात्, समाना हि तयोः कुशलाकुशलयोर्मरणदुःखानुभवादियं वासनेति।**

अर्थात् मरणभयं यथा कृमिः, मूढः अनुभवति तथैव विद्वान्नपि (यो केवलं शास्त्रं पठति पाठयति वा, जीवने नाचरति)। सर्वे जानन्ति यदनित्यमिदं शरीरम्, परं जगति जीवानां प्रायशः समस्तानि कृत्यजातानि शरीरधारितानि वपुःपोषकानि भवन्ति। मृत्युविषयकं चिन्तनं सुखकरं न मन्यते मानवैः। तदा किमस्माभिः शरीरचिन्ता न करणीया, यतो हिं- **शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्** (कुमार०५/३)। अतः शरीरस्य शोधनं पोषणमनिवार्यं परं मनसः बुद्धेः आत्मनश्चापि परिष्करणं, निरीक्षणम्, चिन्तनमपरिहार्यम्। शरीरपक्षे आत्मपक्षे कस्मिन्नपि एकस्मिन्पक्षे दत्तावधानः जनः लक्ष्यं न सेत्स्यति, शरीरमपि रक्षणीयम्, आत्मनः विषया अपि मननीयाः। सम्यक्सन्दिष्टाः सामाजिका ईशोपनिषदि-

विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयं सह।

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते। ईशावास्योपनिषद् ११

सामान्यरूपेण जनसमाजे आत्मचिन्तनम्, आत्मविषयिकी विचारणा चर्चायाः विषयो न भवति। कियत् मनोज्ञमुक्तमस्मिन् मन्त्रे- **यस्यच्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः** (यजु० २५/१३) अर्थात् यस्य प्रभोः न केवलं जीवनदानमेवामृतमपितु मृत्युरपि अमृतरूपैवास्ति। जीवनं तु प्रवाहवत् वर्तते, यदा केनापि कारणेन प्रवाहोऽवरुद्धो भवति तदा प्रवाहः स्वकीयं प्राकृतिकं स्वरूपं परित्यजति। सततं परिवर्त्तनमेव जगतः नियमः, निदर्शनरूपेण प्रकृतिनटीं निजं शरीरं पश्यामश्चेत् तत्र सर्वत्र सर्वदा परिवर्त्तनं प्रचलति, अपि च परिवर्तनानि न सर्वथा दुःखायैव कल्पन्ते। प्रश्न उदेति तदा दुःखस्य किमस्ति कारणम्? अनित्ये वस्तुनि नित्यकल्पना, अशाश्वते शरीरे शाश्वतवदिव व्यवहार एव दुःखस्य कारणम्। अविद्यायाः द्वितीयं लक्षणम्- **अशुचिपदार्थेषु शुचिपरिशीलनम्** तद् भवति रागनाम्नि क्लेशे। **सुखानुशयी रागः** (योग०२.७) इत्यस्मिन् सूत्रे रागं

परिभाषयता आचार्यव्यासेनोदीरितम्- **सुखाभिज्ञस्य सुखानुस्मृतिपूर्वः सुखे तत्साधने वा यो गर्द्धस्तृष्णा लोभः स राग इति।** सूत्रस्यास्य टीकायां हरिहरानन्दवर्येणाटीकितम्- **राग होने पर बिना वश के अथवा बिना जाने ही इच्छा इन्द्रिय तथा विषय की ओर चली जाती है, इच्छा को ज्ञानपूर्वक संयत करने का सामर्थ्य नहीं रहता है। अतः राग अज्ञान या विपरीत ज्ञान है। इसी से आत्मा इन्द्रिय तथा विषय के साथ बद्ध होता है। अनात्मभूत इन्द्रिय में स्थित सुख संस्कार के साथ, निर्लिप्त आत्मा की आबद्धता का ज्ञान ही यहां विपरीत ज्ञान है। इसके अतिरिक्त बुरे को भला समझना भी राग का स्वभाव है।** (पातञ्जलयोगदर्शनम्, पृ.१५७ व्याख्याकारः श्रीमद्स्वामिहरिहरानन्दारण्यः, मोतीलाल-बनारसीदासः देहली, अष्टमं संस्करणम्)। रागविषये गीता कथयति-

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनाम्। १४.७

अविद्यायाः तृतीयं लक्षणम्- **दुःखे सुखप्रतीतिः।** द्वेषे अस्य प्रतीतिः प्राधान्येन भवति। द्वेषविषये व्यासभाष्यम्- **दुःखाभिज्ञस्य दुःखानुस्मृतिपूर्वो दुःखे तत्साधने वा यः प्रतिघो मन्युर्जिघांसा क्रोधः स द्वेष इति।** हरिहरानन्दवर्याः द्वेषक्लेशं स्पष्टीकुर्वन् लिखन्ति- **द्वेष से जिघांसा, प्रतिघ और मन्यु या क्रोध होते हैं। जिघांसा का अर्थ है- अपकार करने की इच्छा। वह वाचिक (आक्रोश से युक्त) हो सकती है, कायिक (अर्थात् प्राण का अतिपात और प्रहार करना आदि) हो सकती है तथा मानसिक (परापकार की चिन्ता) भी हो सकती है। मन्यु-क्रोध। द्वेषवश जो परापकार कर्म किया जाता है, वह हिंसा है। द्वेष से दुःख होता है पर यह न समझकर द्वेषयुक्त**

होकर रहना ही विपर्ययज्ञान है और वह क्लेशों में अन्यतम है। तत्रैव पृ. १५८

न कर्मणा, न वाचा, नैव च मनसापि कदापि द्रोहो विधेयः कल्याणेप्सुना। यथोक्तम्-

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।

अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः। शान्ति.१६२.२१

तथा च-

त्यागः स्नेहस्य यत् त्यागो विषयाणां तथैव च।

रागद्वेषप्रहीणस्य त्यागो भवति नान्यथा। शान्ति.१६२.१७

आशयोऽयं यद् विषयाणां त्यागः तदैव फलवान् भवति यदा नरः रागद्वेषौ त्यजति।

अनात्मनि आत्मा इव अवभास अस्मिताभिधेये क्लेशे जायते। इदं तुरीयं लक्षणमविद्यायाः। **दृक्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवाऽस्मिता** (योग.२.६)। **पुरुषो दृक्शक्तिर्बुद्धिदर्शनशक्तिरित्येतयोरेकस्वरूपापत्तिरिव अस्मिता क्लेश उच्यते** (व्यासभाष्यमस्यैव सूत्रस्य)। भोक्तृभोग्ययोः एकरूपे प्रतीतिः अस्मिता। अत्र भोक्ता पुरुषस्तु चेतनस्वरूपम्, परं बुद्धिस्तु जडात्मिका, अतः विभक्तौ स्वरूपोपलब्धौ सति मुच्यते अर्थात् यदा विवेकज्ञानेन पुरुषो जानाति स्वकीयं स्वरूपं यदहमस्मि चेतनस्वरूपः, न जडात्मकं शरीरम्, तदा मुक्तो भवति।

अविद्या आसक्तिं जनयति, अनया आसक्त्या कारणात् जीवः जन्मजन्मान्तरेषु परिभ्रमन् यत्र तत्र प्रजायते। उक्तञ्च मुण्डकोपनिषदि- **कामान्यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र** (३.२.२)। विविधपदार्थ-वस्तु-व्यक्तिविषयिकी भूयो भूयः प्रादुर्भूता दृढीभूता च

कामनैवासक्तिरूपेण परिणमते। कामानां सागर अपार:, अखिले जगति आवर्ते मोहनामकेनोडुपेन भृशं भ्राम्यते, प्रतिक्षणमायाता: कामानां नूतना आवार्ता: तथा मोहयन्ति जनं येन स: किमपि चिन्तने विचारणे अवशीभूय संसारदावाग्निदाहेन दन्दह्यते। कामानामस्मिन्नपारे अकूपारे क्रोध-लोभ-मद-मोह-ईर्ष्यासदृशा: सिन्धव: सम्मिल्य संपोषयन्ति समुद्रस्यास्य स्वरूपम्। एवमविद्यया जनिमापन्नानामेतेषां क्लेशानां परिणाम: किं भवतीति सूचयति भगवान्पतञ्जलि: **क्लेशमूल: कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीय:** (२.१२) अविद्यादय: क्लेशा: यस्य मूले वर्तन्ते तादृश: कर्माशय प्रत्यक्षजन्मन: भाविजन्मनाञ्च जनिता भवति। मनुष्यपशुपक्षिप्रभृतय: जातय:, तस्यां जातौ जीवस्य जीवनकाल:, तत्र सुखदु:खादय: भोगा: कर्माशयविपाकरूपेण जीव: प्राप्नोति, यथोक्तं योगदर्शनकारेण- **सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगा:** (२.१३)।

अत्र जिज्ञासा उदेति यत् अविद्यापाकरणाय किं करणीयं जिज्ञासुना? समादधति ऋषि:- तपोऽनुष्ठेय:, स्वाध्यायो विधेय:, ईश्वरं प्रति स्वकीयरूपेण स्वीकृतं समस्तं वस्तुजातं समर्पणीयम्। ईश्वरप्रणिधानप्रकरणे आचार्यव्यासेनोदीरितम्- **ईश्वरप्रणिधानं सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणं तत्फलसन्यासो वा।** योग.२.१ सूत्रस्य व्यासभाष्यम्

समर्पणस्य किं स्वरूपमिति जिज्ञासित चेत् कथयति कृष्णमुखेन वेदव्यास:-

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोसि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।। गीता ९.२७

ईश्वरप्रणिधानस्य फलं प्रतिपादयता ऋषिणा पतञ्जलिनोक्तम्- **तत: प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च** (योग. १.२९) अर्थात् ईश्वरप्रणिधानेन

साधकः उच्चचेतनामवाप्नोति तथा साधनमार्गे समायाताः विघ्नसमूहाः समाप्ता भवन्ति। योगदर्शनकारमते तु ईश्वरप्रणिधानं समाधिसिद्धेः साक्षात् साधनम्। तद्यथा- **समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्** (२.४५)। सूत्रस्यास्य भाष्ये भगवान् भाष्यकार आह- **ईश्वरार्पितसर्वभावस्य समाधिसिद्धिर्यया सर्वमीप्सितमवितथं जानाति देशान्तरे देहान्तरे कालान्तरे च, ततोऽस्य प्रज्ञा यथाभूतं प्रजानातीति।**

वस्तुतः स्वाध्याय एव ज्ञानयज्ञः। उद्घोषितं वेदव्यासेन- **क्षेत्रं ज्ञात्वा पार्थिव ज्ञानयज्ञमुपास्य वै तत्त्वमृषिर्भविष्यति** (शान्ति ३१८.१.१)। तथा- **श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तपः** (गीता ४.३३)। ज्ञानमयं तप इति परमेष्ठिनोऽपि विशेषणम्। यथा-

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते॥ मुण्डकोपनिषद् १.१.९

ज्ञानाधारितानि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमुपैति मानव इति महाभारतकारस्य मतम्- **ज्ञानागमेन कर्माणि कुर्वन् कर्मसु सिध्यति** (शान्तिपर्व २३५.११)। मनुना निगदितम्- **तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयस्करं परम्। तपसा किल्विषं हन्ति विद्ययाऽमृतमश्नुते** (मनुस्मृतिः १२.१०४)। अपि चोपनिषदि पठामः- **न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा च। ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः** (मुण्डकोपनिषद् ३.१.८)। श्लोके आगतं ज्ञानप्रसादपदं प्रस्फुटीकुर्वता आचार्यशंकरेण लिखितम्- **ज्ञानप्रसादेन आत्मावबोधनसमर्थमपि स्वभावेन सर्वप्राणिनां ज्ञानं बाह्यविषयरागादिदोषकलुषितमप्रसन्नमशुद्धं सन्नावबोधयति नित्यं संनिहितामप्यात्मतत्त्वं मलावनद्धमिवादर्शनम्। विलुलितमिव सलिलम्। ....तेन**

ज्ञानप्रकाशेन विशुद्धसत्वो विशुद्धान्तःकरणो योग्यो ब्रह्म द्रष्टुं यस्मात्ततस्तस्मात्तु तमात्मानं पश्यते पश्यत्युपलभते निष्कलं सर्वावयवभेदवर्जितं ध्यायमानः सत्यादिसाधनवान् उपसंहृतकरण-एकाग्रेण मनसा ध्यायमानश्चिन्तयन्। (तत्रैव शाङ्करभाष्यम्)। ज्ञानेन विद्यया च जागर्ति जनः। उक्तञ्च महाभारतकारेण- **ज्ञानाभ्यासाज्जागरणम्** (शान्ति.२१६.३)।

आचार्यपतञ्जलिः वैराग्यपदं परिभाषयन् कथयति... **दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकार संज्ञा वैराग्यम्** (योग. १.१५)। सूत्रस्यास्य भाष्यम्- **स्त्रियोऽन्नपानम् ऐश्वर्यम् इति दृष्टविषयवितृष्णस्य, स्वर्ग-वैदेह्यप्रकृतिलयत्वप्राप्तावनुश्रविकविषये वितृष्णस्य दिव्यादिव्यसंप्रयोगेऽपि चित्तस्य विषयदोषदर्शिनः प्रसंख्यानबलाद् अनाभोगात्मिका हेयोपादानशून्या वशीकार संज्ञा वैराग्यम्।** अत्र वैराग्यविषये यदुक्तं तत् ज्ञानं विना नैव भवितुम्मर्हति? कथमिति चेदित्याशङ्कायामुच्यते- अस्माकं देशे वानप्रस्थ-संन्यासिनाम् अनेके सम्प्रदायाः समुदाया वा सन्ति, नैके मठ-मन्दिर-आश्रमाश्च विद्यन्ते। तत्र श्रूयमाणा अनेके अनाचाराः, कलहकालुष्याणि, श्रेष्ठता, उच्चता, नीचता, सम्पत्तिसम्बन्धिविविधा विवादाः किं न सूचयन्ति यत् वस्तुतस्तु ते धर्मस्य सामान्यमपि लक्षणं न जानन्ति, पठितः धर्मश्चेत् तदा शाब्दीक्रीडैव कृता न किञ्चिदपि धारितमाचरितं वेति प्रतीयते। तेषु धारितकाषायवस्त्रेषु यैः शास्त्राणि अधीतानि तेऽपि बहुसंख्यकाः न सन्ति, अनधीतशास्त्र अनाचरिताचरणो वा कथं स्यात् जनानामादरभाक्। ये सम्यक् धर्ममपि अवगन्तुमसमर्थाः तत्र वैराग्यस्य तु का कथा, तैः ज्ञानं नाचर्यते नोपदिश्यते वा अतः सत्स्वपि नैकेषु ब्राह्मणेषु, ब्रह्मचारिषु, वानप्रस्थिषु, संन्यासिषु, गृहस्थोपदेशकेषु नाधिकः प्रभावो दृश्यते जनसमाजे। अपरतश्च ये

विद्यावदातमुखा:, ज्ञानसम्पन्ना:, असङ्गाश्च तिष्ठन्ति तेषां तथैव प्रभावो लोकेषु द्रष्टुमपि शक्यते, वस्तुतस्तु एतादृशा विद्योपासका: एव सन्ति आचार्योपदिष्टवैराग्योपदेशभागिन:। कथितञ्च-

असङ्ग: श्रेयसो मूलं ज्ञानं चैव परागति:। शान्ति.२९८.३

परवैराग्यमपरवैराग्यञ्चेति भेदद्वयं वैराग्यस्य। तत्रापरवैराग्यं चतुर्धा विभक्तम्- यतमान-व्यतिरेक-एकेन्द्रिय-वशीकाराख्यम्। अस्मिन् प्रकरणे हरिहरानन्दवर्या उल्लिखन्ति- **विषयों की ओर इन्द्रियों को प्रवृत्त नहीं कराऊंगा, इस प्रकार की चेष्टा करते रहना यतमान वैराग्य है। यतमान वैराग्य स्वल्पाधिक मात्रा में सिद्ध हो जाने पर जब किसी विषय से राग हट जाता है और किसी-किसी में क्षीण होता रहता है तब व्यतिरेक के साथ अथवा कहीं-कहीं वैराग्यावस्था दृढ़ करने का सामर्थ्य उत्पन्न हो जाता है, यह व्यतिरेक वैराग्य कहलाता है। अभ्यास के द्वारा इसकी आदत करने पर जब सभी इन्द्रियां बाह्य विषयों से भलीभांति निवृत्त हो जाती हैं, पर उत्सुकता के रूप में मन में कुछ अनुराग अवशिष्ट रहता है, तब उस अवस्था को एकेन्द्रिय कहा जाता है, क्योंकि वह केवल मनोरूप एक ही इन्द्रिय में रहता है। इसके पश्चात् जब जितेन्द्रिय योगी को इच्छापूर्वक राग को निवृत नहीं करना पड़ता तथा चित्त और इन्द्रियां लौकिक और पारलौकिक सभी विषयों से अपने आप ही निवृत्त हो जाती हैं तब उसे अपर वैराग्य का पूर्णतारूप अर्थात् हेयोपादेय या त्याग-ग्रह से शून्य वशीकार वैराग्य कहते हैं। इस अवस्था में विषयों की ओर परम उपेक्षा होती है।** (पृ. ४०)

परवैराग्यपरकं सूत्रमुपपादयता ऋषिणोदीरितम्- **तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्** (१.१६) अर्थात् दृष्टादृष्टविषयदोषदर्शी विरक्तः योगी पुरुषदर्शनाभ्यासेन सत्त्वैकतानतायुक्तो भवति तदा स व्यक्ताव्यक्तधर्मकेभ्योऽपि विरक्तो जायते, तस्यामवस्थायां तस्य वैराग्यं परवैराग्यमिति उच्यते, तज्ज्ञानप्रसादमात्रम् भवति। ज्ञानप्रसादेन स्नातः विरक्तः किमनुभवतीति प्रतिपादयन्नुद्धृतं आचार्यव्यासेन- **यस्योदये प्रत्युदितख्यातिरेवं मन्यते- प्राप्तं प्रापणीयम्, क्षीणाः क्षेतव्याः क्लेशाः, छिन्नः शिलष्टपर्वाभवसंक्रमः, यस्य अविच्छेदाज्जनित्वा म्रियते, मृत्वा च जायते इति। ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम्, एतस्यैव नान्तरीयकं कैवल्यमिति।**

❑

पावमानी मार्च २०१७ अंक ३२/२-३ ISSN २२२९-६३२८ UGC पत्रिका सं. ४०९५२

उपनिषदों में वर्णित परा एवं अपरा विद्या

डॉ० विनोद कुमार[१]

यह सर्वविदित तथ्य है कि आवश्यकता आविष्कार की जननी है। प्राचीनकाल में लोग अपने जीवन निर्वाह हेतु जितने साधन आवश्यक समझते थे वे उन्हें अनायास प्राप्त थे अत: भौतिक साधनों का आविष्कार करने तथा प्रतिस्पर्धात्मक विधि से उनका उपभोग व संग्रह करने की प्रवृत्ति उनमें नहीं दिखाई देती लेकिन इस बात में कोई सन्देह नहीं कि वे लोग आज के अशिक्षित, सुशिक्षित, सम्भ्रान्त तथा बुद्धिजीवी किसी भी वर्ग से अधिक जिज्ञासु व विचारवान् थे। उनकी आवश्यकता जन्म-मरण के रहस्यों को सुलझाने में प्रकट होती है तथा उनके आविष्कार आज भी आध्यात्मिक शान्ति प्राप्त करने के अद्‌भुत उपाय के रूप में विद्यमान हैं, जिन्हें हम पारिभाषिक शब्दावली में 'उपनिषद्' कहते हैं।

वैदिक संस्कृति में आदिकाल से ही दो प्रकार की विद्याओं को मान्यता प्राप्त है। उपनिषदों में हम देखते हैं कि गुरुओं ने अपने शिष्यों को दोनों ही विद्याओं को जानने का परामर्श दिया। गुरु ब्रह्मा की परम्परा में आए गुरु अंगिरा ने अपने जिज्ञासु शिष्य शौनक से कहा- ब्रह्मवित् लोग यह कहते हैं कि दो विद्याओं को जानना चाहिए- परा तथा अपरा। इनमें ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद,

[१] सहायक आचार्य, रा.म.स्ना. महाविद्यालय काँधला, शामली

अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष् का ज्ञान 'अपरा' विद्या है और जिस विद्या से उस अक्षर ब्रह्म का ज्ञान हो वह 'परा' विद्या है।[२]

इनमें अपरा विद्या को भौतिक विद्या या अविद्या भी कहा जाता है जबकि परा विद्या को विद्या, अध्यात्मविद्या या ब्रह्मविद्या कहते हैं। कठोपनिषद् विद्या को श्रेयमार्ग (मोक्ष का मार्ग) तथा अविद्या को प्रेयमार्ग (प्रिय लगने वाला मार्ग) बतलाती है।[३] वस्तुतः उपनिषद् में वर्णित अपरा विद्या को आधुनिक विद्या या भौतिक विद्या का तत्कालीन प्रतिरूप कहा जा सकता है। चूँकि भौतिक विद्या का स्वरूप, जीवन निर्वाह के साधन उपलब्ध कराने के कारण लोगों की आवश्यकताओं के अनुरूप बदलता रहता है, ठीक उसी प्रकार का बदलाव हमें उपनिषद्काल में भी दृष्टिगोचर होता है। मुण्डकोपनिषद् में वेद वेदाङ्गों की शिक्षा ही अपरा विद्या मानी गयी जबकि छान्दोग्योपनिषद् में इसका अधिक विस्तृत रूप दिखाई देता है। जब ज्ञान प्राप्ति की इच्छा से नारद सनत्कुमार के पास पहुँचकर प्रार्थना करते हैं, तो ऋषि ने कहा- जो कुछ तुम पहले से जानते हो वह बतलाओ तब मैं उससे आगे तुम्हें शिक्षा दूँगा।

नारद ने बताया-भगवन्! मैंने ऋग्वेद पढ़ा है और यजुर्वेद, सामवेद, चौथा आथर्वण, पाँचवा इतिहास-पुराण, वेदों के वेद अर्थात् वेदाङ्ग, पित्र्य (शुश्रूषा विज्ञान), राशि (गणित), दैवविद्या (उत्पात विज्ञान), निधिशास्त्र (अर्थशास्त्र), वाकोवाक्य (तर्कशास्त्र या कानून), एकायन (नीतिशास्त्र), देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या (प्राणिविज्ञान), क्षत्रविद्या (शस्त्रास्त्र विद्या), नक्षत्र

---

[२] मुण्डकोपनिषद्, १-१-४-५

[३] कठोपनिषद्, १-२-४

विद्या (ज्योतिष्), सर्पविद्या (विषविज्ञान), देवजन विद्या (ललितकला) इनको भी पढ़ा है।[४]

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि प्राचीनकाल में दोनों विद्याएँ प्रचलित थीं। अपरा विद्या के द्वारा लोग सांसारिक भोग के साधन प्राप्तकर अपने लौकिक जीवन को सुख-सुविधापूर्वक पूर्ण करने का प्रयत्न करते थे जबकि परा विद्या के द्वारा परब्रह्म का साक्षात्कार कर मोक्ष की प्राप्ति की आशा करते थे। इसी आशय से ईशोपनिषत् विद्या (परा विद्या) एवं अविद्या (अपरा विद्या) दोनों की उपासना को अनिवार्य बतलाती है। वहाँ स्पष्ट कहा है 'विद्या एवं अविद्या को जो भलीभांति जान लेता है, वह अविद्या के द्वारा मृत्यु को पारकर विद्या के द्वारा अमृतत्त्व (मोक्ष) को प्राप्त कर लेता है।[५] उल्लेखनीय है कि जिन अग्निहोत्रादि कर्मकाण्ड तथा ऋग्वेदादि ग्रन्थों के अध्ययन को आज आध्यात्मिक विद्या कहा या माना जाता है, वे तो परा विद्या या आध्यात्मिक विद्या है ही नहीं। आदि गुरु शंकराचार्य ने अग्निहोत्रादि कर्मकाण्ड को अविद्या के अन्तर्गत माना है।[६] मुण्डकोपनिषद् भी कर्मकाण्ड की निरर्थकता प्रतिपादित करते हुए कहती है- 'भवसागर को पार करने के लिए ये यज्ञरूप प्लव, ये यज्ञ-यागादि के बेडे अदृढ़ हैं, बिल्कुल ढीले हैं। ये अपरा विद्या हैं; विद्या क्या? ये अविद्या हैं। इनमें अठारह प्रकार के कर्म कहे गये हैं परन्तु ये सब कर्म अवर हैं, श्रेष्ठ नहीं हैं। जो मूढ व्यक्ति इन यज्ञीय कर्मों को श्रेय मानकर

---

[४] छान्दोग्योपनिषद्, ७ प्रपा., १ खण्ड , १-२

[५] ईशावास्योपनिषद्, मं. ११

[६] विद्या ज्ञाननिष्ठा, अविद्या अग्निहोत्रादिलक्षणं कर्म। वहीं, शांकरभाष्य

आनन्द मनाते फिरते हैं वे बार-बार जरा तथा मृत्यु के बन्धन में फँसते हैं।[७] इसी प्रकार ऋग्वेदादि ग्रन्थों के अध्ययन को छान्दोग्योपनिषद् में शब्दज्ञान या नामज्ञान मात्र माना गया है। वहाँ सनत्कुमार नारद से कहते हैं-'आत्मवित् बनने के लिए नामज्ञान तो प्रथम सोपान है। तू नाम की उपासना कर, नाम से अर्थात् शब्दज्ञान से शुरु कर परन्तु यहीं तक रुक मत जा'।[८]

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि प्राचीन काल में जिस विद्या को अपरा विद्या (भौतिक विद्या) के अन्तर्गत माना जाता था आजकल वह परा विद्या मानी जाने लगी है जबकि उस समय वास्तव में जो परा विद्या (अध्यात्म विद्या) थी वह आजकल अस्तित्त्वविहीन है। आजकल अपरा विद्या का भी धनोपार्जनरूप एक भाग ही महत्त्वपूर्ण है और परा-विद्या केवल इतिहास का विषय है। ध्यातव्य है कि समस्त उपनिषदों का प्रमुख प्रतिपाद्य परा विद्या ही है जिसे वहाँ अपरा विद्या से श्रेष्ठ बताकर उसे आत्मसात् करने पर बल दिया गया है। छान्दोग्योपनिषद् में सनत् ऋषि नारद से कहते हैं- 'बिना सुख के कोई कुछ नहीं करता, सुख मिलने से ही मनुष्य कर्म में प्रवृत्त होता है, इसलिए तुझे सुख को जानने की इच्छा करनी चाहिए और जो भूमा है, क्षुद्र है, उसमें सुख नहीं है। जिस परम शुद्ध अवस्था में आत्मा अन्य वस्तु को न देखता है, न सुनता है, न जानता है, वही 'भूमा' है। भूमा किसी में प्रतिष्ठित नहीं, वही नीचे है, वही ऊपर है व पीछे है, सामने है, दाएं है, बाएं है, वही यह सब कुछ है। जो आत्मा के भूमा रूप को देख लेता है वह मृत्यु को नहीं देखता,

[७] मुण्डकोपनिषद्, १-२-७, १०,११

[८] छान्दोग्योपनिषद्, ७-१-४

रोग को नहीं देखता, दु:ख को नहीं देखता। भूमा का साक्षात् करने वाला सब कुछ देख लेता है, सब तरह से सब कुछ पा लेता है, उसके लिए कुछ बचा नहीं रहता।[९] ईशोपनिषद् भी यही कहती है- 'जिस जानने वाले के ज्ञान में सब भूत आत्मवत् हो गये, इसलिए आत्मवत् हो गए क्योंकि कण-कण में ईश ही बसा हुआ है, फिर वहाँ भूतों के अनेकत्व में आत्मा के एकत्व दर्शन करने वाले के लिए मोह कैसा और शोक कैसा?[१०] तैत्तिरीय उपनिषद् में अपने पिता भृगु से ब्रह्मविद्या का उपदेश प्राप्त करने गया वरुण स्थूलमति से अन्न, मन, प्राणादि को ब्रह्म समझता हुआ अन्तत: गहन तप व सूक्ष्म मति के द्वारा आनन्द को ही ब्रह्म मानता है।[११] बृहदारण्यक उपनिषद् में मैत्रेयी के द्वारा याज्ञवल्क्य से ब्रह्मविद्या का स्वरूप पूछे जाने पर ऋषि ने कहा- इस संसार में समस्त जड-चेतन पदार्थ जो लोगों को प्रिय होते हैं वस्तुत: वे प्रिय नहीं होते अपितु आत्मा की कामना के लिए प्रिय होते हैं। पति की कामना के लिए पति प्रिय नहीं होता अपने आत्मा की कामना के लिए पति प्रिय होता है। पत्नी की कामना के लिए पत्नी प्रिय नहीं होती अपने आत्मा की कामना के लिए पत्नी प्रिय होती है। इसी प्रकार पुत्र, वित्त, ब्राह्मशक्ति, क्षात्रशक्ति, लोक, देव, भूत आदि जिस आत्मा के लिए प्रिय होते हैं- अरे! वह आत्मा ही तो द्रष्टव्य है, श्रोतव्य है, मन्तव्य है, निदिध्यासितव्य है। उसी को देख, उसी को सुन, उसी को जान, उसी का ध्यान कर। अरे मैत्रेयि! आत्मा के ही देखने से, सुनने से,

---

[९] वही, प्रपा. ७, खण्ड-२१, २४, २५, २६

[१०] ईशावास्योपनिषद्, मं. ७

[११] तैत्तिरीयोपनिषद्, भृगुवल्ली, अनुवाक ६

समझने से और जानने से सब गाठें खुल जाती हैं।[१२] उल्लेखनीय है कि प्रस्तुत प्रसंग में वर्णित ब्रह्मविद्या को उपनिषद् में 'मधुविद्या' का नाम दिया गया है क्योंकि पृथिवी, जल आदि पदार्थ सब प्राणियों को मधु के समान प्यारे हैं और पृथिवी आदि पदार्थों को भी सब प्राणी मधु समान प्यारे हैं। पृथिव्यादि पदार्थों में व्याप्त रहा जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष है, यह व्यष्टिरूप पिण्ड का आत्मा है। आत्मा ही अमृत है, आत्मा ही ब्रह्म है, आत्मा ही यह सब कुछ है।[१३]

उपर्युक्त विवेचनोपरान्त यह निष्कर्ष निगमित होता है कि अपरा विद्या के द्वारा प्राचीन समय में और वर्त्तमान समय में भी धन-धान्य, सम्पत्ति, ऐश्वर्यादि साधनों से सम्पन्न व्यक्ति सुविधापूर्वक जीवन निर्वाह तो कर सकते हैं किन्तु इन साधनों से अमरता पाने की आशा नहीं की जा सकती। यही बात याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को ब्रह्मविद्या का उपदेश करने से पूर्व कही थी- **यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितं स्यादमृतत्त्वस्य तु नाऽशास्ति वित्तेनेति** (बृहदा०, अ. २, ब्रा ४, कण्डिका २)। लेकिन परा विद्या के अभाव में सुख, आनन्द व प्रेम के मूलभूत तथा एकमात्राश्रय को नहीं जान सकते और जब आश्रय का ही ज्ञान नहीं होगा तो उसका सुखात्मक, आनन्दात्मक अथवा प्रेमात्मक जो स्वरूप है उसे लोग कैसे प्राप्त कर सकते हैं? आज संसार के लोगों की, प्रमुखतया भारतीय समाज की सबसे बड़ी बिडम्बना यही है कि वह विरोचन की प्रवृत्ति वाला होकर जिज्ञासा के अभाव में देह को आत्मा समझ बैठा है और साधन संग्रह कर केवल इहलोक को सुविधापूर्वक पूर्ण करना

---

[१२] बृहदारण्यकोपनिषद्, अ. २, ब्रा. ४, कण्डिका- ५

[१३] वही, अ. २, ब्रा ५, कण्डिका १-१९

चाहता है जबकि उसे इन्द्र के समान जिज्ञासापूर्वक आनन्द के स्रोत व मूलभूत आश्रय को प्राप्त करने के लिए प्रयासरत रहना चाहिए, तभी उसको मोक्ष, अमृतत्त्व या आनन्द की प्राप्ति होगी[१४] और इसके लिए जैसे प्राचीन काल में लोग परा-विद्या एवं अपरा विद्या दोनों का ज्ञान प्राप्त करते थे ठीक उसी प्रकार आज भी अपरा-विद्या के वर्त्तमान रूप के साथ-साथ परा-विद्या के प्राचीन स्वरूप को उपनिषदों के माध्यम से जानकर आत्मसात् करना अपरिहार्य है। इसी में मनुष्य जन्म की सार्थकता व सफलता निहित है।

❑

[१४] छान्दोग्योपनिषद्, प्रपा. ८ खण्ड. ७

पावमानी मार्च २०१७ अंक ३२/२-३ ISSN २२२९-६३२८ UGC पत्रिका सं. ४०९५२

छान्दोग्योपनिषद् में ओंकार का स्वरूप

डॉ० (श्रीमती) मधु सत्यदेव[1]

'**ओमित्येतदक्षरम्**' इत्यादि मन्त्र से आरम्भ होने वाला यह आठ अध्यायों का ग्रन्थ छान्दोग्योपनिषद् है। 'ओम्' रूप इस अक्षर की ही उद्गीथ शब्द वाच्य परमात्मा के रूप में उपासना करनी चाहिए।[2]

इन चराचर जीवों का रस-आधार पृथ्वी है, पृथ्वी का रस आधार अथवा कारण जल है, जल का रस-उस पर निर्भर रहने वाली औषधियां हैं, औषधियों का रस-उनसे पोषण करने वाला मनुष्य-शरीर है, मनुष्य का रस-प्रधान अंग वाणी है, वाणी का रस-सार ऋचा है, ऋचा का रस साम है और साम का रस उद्गीथ (ओंकार) है। इनमें से जो आठवाँ अर्थात् सबसे अन्तिम रस उद्गीथ ओंकार है, वह समस्त रसों में उत्कृष्ट रस है। अतः यह सर्वश्रेष्ठ एवं परब्रह्म आत्मा का धाम-आश्रय है। वस्तुतः वाणी ही ऋचा है, प्राण साम है, 'ओम्' यह अक्षर ही उद्गीथ है। जो वाणी और प्राण तथा ऋचा और साम है, दोनों एक ही जोड़ा हैं- दो नहीं हैं अर्थात् वाणी अथवा ऋचा तथा प्राण अथवा साम एक दूसरे के पूरक हैं। वाणी और प्राण अथवा ऋचा अथवा साम का यह जोड़ा 'ओम्' रूप इस अक्षर में भलीभाँति संयुक्त किया जाता है। जिस समय स्त्री और पुरुष आपस में प्रेमपूर्वक मिलते हैं, उस समय अवश्य ही एक दूसरे की कामना पूर्ण करते हैं।

---

[1] **संस्कृत विभाग, दी०द०उ० गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर**

[2] (क) ओमित्येतदक्षरमिति छान्दोग्योपनिषत्।
तस्याः संक्षपतोऽर्थजिज्ञासुभ्य ऋजुविवरणमल्पग्रन्थमिदमारभ्यते।
(ख) ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत्।
ओमितिह्युद्गायति तस्योपव्याख्यानम्।। छान्दोग्य० १

इसी प्रकार वाणी और प्राण का जोड़ा जब ओंकार में लगाया जाता है तब वह सदा के लिए पूर्णकाम-कृतकृत्य हो जाता है। इस रहस्य को जानने वाला जो कोई उपासक इस उद्गीथ स्वरूप अविनाशी परमेश्वर की उपासना करता है वह निश्चय ही सम्पूर्ण कामनाओं की प्राप्ति करने में समर्थ होता है।[3]

यह 'ओम्' रूप अक्षर अनुज्ञा अर्थात् अनुमति सूचक भी है क्योंकि मनुष्य जब किसी बात के लिए अनुमति देता है तब ओम् इस शब्द का ही उच्चारण करता है। किसी को कुछ करने के लिए जो यह अनुज्ञा-अनुमति देना है, वही समृद्धि-बड़प्पन का लक्षण है। अत: इस रहस्य को जानने वाला जो साधक उद्गीथ के रूप में उस परम अक्षर परमात्मा की उपासना करता है वह अपनी और दूसरों की समस्त कामनाओं-भोग्य वस्तुओं को बढ़ानें में समर्थ होता है।

ओंकार से ही ऋक्, यजु: और साम यह तीनों वेद अथवा इन तीनों वेदों में वर्णित यज्ञादि कर्म आरम्भ होते हैं। इस ओंकार रूप अक्षर की अर्थात् इसके लिए अर्थभूत अविनाशी परमात्मा की पूजा प्रीति के लिए इसी की महिमा (प्रभाव) एवं रस (शक्ति) से ओम् इस प्रकार कहकर 'अध्वर्यु' नामक ऋत्विक् 'आश्रावण' करता है- मन्त्र सुनाता है, ओम् ऐसा कहकर ही होता नाम का ऋत्वि ् शंसन करता है, मन्त्रों का पाठ करता है और 'ओम्' ऐसा कहकर ही उद्गाता उद्गीथ का गान करता है। जो इस रहस्य को इस प्रकार जानता है और जो नहीं जानता है दोनों ही इस ओंकार से ही यज्ञादि कर्म करते हैं- परन्तु जानना और न जानना

---

[1] एषां भूतानां पृथिवी रस पृथिव्या आपो रस:।
अपामोषधयो रस ओषधीनां पुरुषो रस: पुरुषस्य वाग्रसो वाच ऋग्रस ऋच: साम रस: साम्न उद्गीथो रस:। छान्दोग्य० (२-७) खण्ड-१

दोनों अलग-अलग हैं। साधक जो कुछ भी श्रद्धापूर्वक अपने वास्तविक रहस्य को बताने वाली विद्या के द्वारा अर्थात् उसके तत्त्व को समझकर करता है वही अधिक से अधिक सामर्थ्ययुक्त होता है। यही इस ओंकार रूप अक्षर की महिमा है।[४]

द्वितीय खण्ड में ओंकार की आध्यात्मिक उपासना का वर्णन है। यह प्रसिद्ध है कि अँगिरा ऋषि ने प्राण को ही प्रतीक बनाकर ओंकार स्वरूप परमात्मा की उपासना की थी। अतः लोग इसी को 'अँगिरस'- अगिंरा का उपास्य मानते हैं। क्योंकि यह समस्त अंगों का रस-पोषक है। इसीलिए बृहस्पति ने भी प्राण रूप से उद्‌गीथ की, ओंकारवाच्य परमात्मा की उपासना की थी। परन्तु लोग प्राण को ही बृहस्पति मानते हैं क्योंकि वाणी का नाम बृहती भी है और उसका यह प्रति-रक्षक है। इसी से अयास्य ऋषि ने भी प्राण के रूप में उद्‌गीथ की उपासना की थी। प्राण के महत्व को जानने वाला जो उपासक अक्षर-ओंकार रूप उद्‌गीथ की उपासना करता है वह निःसन्देह ओंकार के गान द्वारा अपनी मनोवांछित वस्तु को प्राप्त करने में समर्थ होता है।[५]

तृतीय खण्ड में ओंकार आदि दैविक उपासना का वर्णन है। जो यह सूर्य तपता है उसी की उद्‌गीथ रूप में उपासना करनी चाहिए। यह सूर्य उदय होते ही मानव प्रजा के लिए अन्न आदि की उत्पत्ति के उद्‌देश्य से उद्‌गान करता है- उनकी उन्नति में कारण बनता है, इसलिये उद्‌गीथ है। इतना ही नहीं यह उदय होते ही अन्धकार और भय का नाश कर देता है। अतः जो इस प्रकार सूर्य का

---

[४] छान्दोग्य० (८-१०) खण्ड-१

[५] छान्दोग्य० (१०-१४)

प्रभाव जानता है, वह स्वयं जन्म-मृत्यु के भय और अज्ञान रूप अन्धकार का नाशक बन जाता है।[६]

यह प्राण और वह सूर्य दोनों समान ही हैं क्योंकि यह मुख्य प्राण ऊष्ण है और सूर्य गर्म है। इस प्राण को लोग स्वर (क्रिया शक्ति सम्पन्न) एवं प्रत्यास्वर (दूसरों को क्रिया शक्ति प्रदान करने वाला) दोनों नामों से पुकारते हैं। इसीलिए इस प्राण एवं सूर्य के रूप में उस उद्गीथ की उपासना करनी चाहिए। 'व्यान' के रूप में भी उद्गीथ की उपासना करनी चाहिए।[७]

मनुष्य जो श्वांस के द्वारा भीतर की वायु को बाहर निकालता है वह प्राण है और बाहर की वायु को भीतर ले जाता है वह अपान है तथा प्राण और अपान की सन्धि व्यान है, जो व्यान है वही वाणी है, जो वाणी है वही ऋचा है। इसलिए मनुष्य प्राण और अपान की क्रिया न करता हुआ ही वेद की ऋचाओं का भलीभांति उच्चारण करता है, वही साम है, जो साम है वही उद्गीथ है। इसीलिए मनुष्य प्राण और अपान की क्रिया न करता हुआ ही उच्च स्वर से उद्गीथ का गान करता है। उद्गीथ शब्द के जो तीन अक्षर हैं उनके रूप में उद्गीथ शब्द वाच्य परमात्मा की उपासना करनी चाहिए। उत् प्राण है, क्योंकि मनुष्य प्राण से उत्थान करता है 'गी' वाणी का द्योतक है क्योंकि वाणी को 'गी' नाम से पुकारते हैं, 'थ' अन्न का वाचक है और 'थ' स्थिति का भी बोधक है। इस प्रकार जानने वाला जो साधक उद्गीथ शब्द के इन तीनों अक्षरों की उद्गीथ-ओंकार वाच्य परमात्मा के रूप में उपासना करता है उसके लिए वाणी सारा रहस्य खोल देती है अर्थात् उसके सामने समस्त वेदों का तात्पर्य अपने आप प्रकट हो जाता है तथा

---

[६]अथाधिदैवतं य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीतोद्यन्वा एव प्रजाभ्य उद्गायति। उद्य:स्तमोभयमपहन्त्यपहन्ता ह वै भयस्य तमसो भवति य एवं वेद।। छान्दोग्य० तृतीय खण्ड

[७] छान्दोग्य० तृतीय खण्ड-२

वह सब प्रकार की भोग सामग्री एवं उसे भोगने की शक्ति से सम्पन्न हो जाता है।[८]

इस प्रकार 'प्रणव' ही ओंकार है और जो प्रणव है वही उद्गीथ है। आकाश में विचरण करने वाला सूर्य ही उद्गीथ है एवं प्रणव है क्योंकि प्रणव ही उसका सार है। अतएव होता के आसन से ही उद्गाता द्वारा किये गये दोषयुक्त उद्गान को 'प्रणव' के उच्चारण से सुधार लेता है। यह ओंकार की महिमा है।[९] जिस समय उपासक अध्ययन द्वारा ऋक् को प्राप्त करता है उस समय वह ओम् ऐसा कहकर ही बड़े आदर से उच्चारण करता है। इसी प्रकार वह साम और यजुः को भी प्राप्त करता है। यह जो अक्षर है, वह अन्य स्वरों के समान स्वर है। यह अमृत और अभय रूप है। इसमें प्रविष्ट होकर देवगण अमृत एवं अभय हो गये। इसमें प्रवृष्ट होने पर, जिस पर राजकुल में प्रवेश करने वालों में कोई राजा के अन्तरंग होते हैं और कोई बहिरंग होते हैं। इस प्रकार परब्रह्म के अन्तरंग बहिरंग का भेद नहीं रहता है। जिस अमृततत्त्व से देवगण अमर हो गये थे उसी अमृततत्त्व से विशिष्ट होकर यह भी उसी के समान अमर हो जाता है। इसके अमृततत्त्व में न तो न्यूनता रहती है और न ही अधिकता। अतएव जो निश्चय ही उद्गीथ है, वही ऋग्वेदियों का प्रणव है तथा उनका जो प्रणव है, वही छान्दोग्योपनिषद् में उद्गीथ शब्द से कहा गया है। यह आदित्य ही उद्गीथ है, यही प्रणव है अर्थात् ऋग्वेदियों के यहाँ प्रणव शब्द वाच्य वही है।

❑

---

[८] छान्दोग्य० तृतीय खण्ड-६-७

[९] छान्दोग्य० पंचम् खण्ड-१-५

पावमानी मार्च २०१७ अंक ३२/२-३ ISSN २२२९-६३२८ UGC पत्रिका सं. ४०९५२

उपनिषत्साहित्य में अभिव्यक्त आर्थिक-संसाधन

डॉ० रामरतन खण्डेलवाल[1]

सामाजिक व्यवस्था के सम्यक् संचालनार्थ अर्थ की महती आवश्यकता होती है। किसी भी राष्ट्र का स्थायित्व उसकी अर्थव्यवस्था पर निर्भर करता है। आर्थिक स्थिति सुदृढ़ होती है तो राष्ट्र प्रगति करता है, एतद्विपरीत अर्थाभाव होने पर राष्ट्र निर्बल होकर शनैः शनैः समाप्त हो जाता है। यही कारण है कि धर्माचार्यों ने अर्थ की आवश्यकता पर बल दिया है।[2] यही कारण है कि उन्होंने राज्य के सात अंगों में अर्थ की गणना की है।[3]

सामान्यतया जिससे प्राणियों कं जीवन निर्वाह चले, उसे अर्थ नाम्ना अभिहित किया जाता है। कामन्दकीय नीतिसार में जीविका के समस्त उपकरण अर्थ के रूप में स्वीकार करते हुए कहा गया है- **अर्थः जीविकोपकरणम्।**[4] आचार्य वात्स्यायन ने अर्थ पद को अधिक स्पष्ट करते हुए लिखा है- **विद्याभूमिहिरण्यपशुधनधान्यभाण्डोपस्करविद्यादीनामर्जनम् अर्जितस्य च विवर्धनमर्थम्।**[5] अर्थात् विद्या, भूमि, स्वर्ण, पशु, धन, अन्न, पात्र, गृहस्थी के

---

[1] साहित्य विभाग, उत्तराखण्ड संस्कृत वि.वि. हरिद्वार

[2] गौ.ध.सू. 2/1/28-30 बौधा.ध.सू. 1/10/17/1

[3] कोषपूर्वा समारम्भाः, तस्मात् पूर्वं कोषमवेक्षेत्। कौटिल्य अर्थ. 2/8

[4] का.नी. 5/62 पर टीका

[5] का. सूत्र0 1

उपकरण आदि की प्राप्ति तथा उनकी वृद्धि करना अर्थ है। सामान्यतया सभी को अर्थ की आवश्यकता होती है। चार पुरुषार्थों में अर्थ की गणना द्वितीय स्थान पर की गई है। सुख का मूल प्रथम पुरुषार्थ धर्म है तथा धर्म का मूल अर्थ माना गया है- **सुखस्य मूलं धर्मः। धर्मस्य मूलमर्थः।**[६]

धर्म एवं काम के मध्य में अर्थ का स्थान है। दोनों को ही अर्थ से बल प्राप्त होता है। जिस प्रकार शस्त्रास्त्रों के अभाव में शौर्य की अथवा स्त्री के बिना गृहस्थ की स्थिति होती है उसी प्रकार अर्थ के अभाव में अन्य पुरुषार्थों की। उपनिषदों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि तत्कालीन अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार कृषि तथा पशुपालन थे। आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्त्यर्थ इनके अतिरिक्त विभिन्न शिल्प तथा व्यवसाय के प्रचलन के संकेत भी उपनिषदों में प्राप्त होते हैं। प्रकृत शोध पत्र में उपनिषदों में अभिव्यक्त आर्थिक संसाधनों का अनुशीलन करना अभिप्रेत है।

यद्यपि उपनिषदों का मूल प्रतिपाद्य आध्यात्मिक एवं दार्शनिक ही है किन्तु विश्व के इस महान् आध्यात्मिक वाङ्मय का एक अन्य महत्त्वपूर्ण पक्ष तत्कालीन सांस्कृतिक जीवन भी है। अध्यात्म तथा दर्शन पर गहन विमर्श करने वाले ऋषि ब्रह्मनिष्ठ थे तो वे महाशाल अर्थात् महागृहस्थ भी थे। उनका चिन्तन पारलौकिक था। जीवन इहलौकिक ही था, उपनिषद् वाङ्मय में यत्र तत्र प्रसृत उद्धरणों को

---

[६] चा0सू 1/1-2

संकलित कर तत्कालीन समाज के आर्थिक पक्ष का विश्लेषण किया जा सकता है। उपनिषत्काल में कृषि, पशुपालन, शिल्प तथा व्यवसाय आदि के द्वारा नागरिक अर्थोपार्जन करते थे। कृषि प्राचीन काल से ही भारतीय समाज में अर्थोपार्जन का महत्त्वपूर्ण साधन रही है। वेदों में भी कृषि कार्य का पर्याप्त वर्णन यह प्रमाणित करता है कि वैदिक काल में भारतीय समाज कृषि वर्ग में पर्याप्त उन्नति कर चुका था।[७] कृषि पर आधारित तत्कालीन मनुष्यों का आर्थिक जीवन अत्यन्त समृद्ध तथा वैभवपूर्ण था। इस समय कृषि का बडे स्तर पर विकास हुआ। फलतः विभिन्न प्रकार के शस्यों को उत्पन्न करने का प्रयास किया गया। वस्तुतः कृषि द्वारा उत्पादित शस्यं मनुष्य मात्र के जीवनधायक हैं। औपनिषद ऋषियों ने इसकी महत्ता जानते हुए (**अन्नं बहु कुर्वीत,** प्रश्नो० ३/९; **अन्नं न परिचक्षीत** तदैव ३/८; **अन्नं न निन्द्यात्** तदैव ३/७) आदि निर्देश दिये हैं। औपनिषद सन्दर्भों से ज्ञात होता है कि तत्कालीन मनुष्यों में अन्नोत्पादन को लेकर अत्यन्त व्यग्रता थी। यथा तैत्तिरीयोपनिषद् का यह उद्धरण दृष्टव्य है- **तस्माद्या कया च विधया बह्वन्नं प्राप्नुयात्।**[८] यहॉ वरुण उपदेश देते हैं कि मनुष्य को अधिक अन्न उत्पादन करना

---

[७] ऋग् 3/45; 8/69/2; 10/68/1; 10/101/5; अथर्व0 3/17/3

[८] तै0उ0 10

चाहिए। कृषि भूमि को क्षेत्र कहा जाता है।[९] विद्वानों के मतानुसार लोगों का कृषि क्षेत्र पर व्यक्तिगत स्वामित्व होता था।[१०]

शस्योत्पादनार्थ कृषि क्षेत्र में बीज बोये जाते थे।[११] बीज के अर्थ में धाना पद का भी प्रयोग होता है।[१२] छान्दोग्योपनिषद् में महर्षि उद्दालक श्वेतकेतु को तत्त्वज्ञान जैसे गम्भीर विषय का उपदेश बीज के दृष्टान्त के माध्यम से देते हैं।[१३] इससे विदित होता है कि तत्कालीन विद्यार्थी भी कृषि से सुपरिचित थे। उपनिषदों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि तत्कालीन कृषक कृषि हेतु बीज वपन ऋतु काल को अभिलक्ष्य कर करते थे। छान्दोग्योपनिषद् में ऋतु विषयक पञ्चविध सामोपासना का वर्णन इसी की पुष्टि करता है।[१४] वर्षा ऋतु कृषकों के हर्ष का हेतु थी। जैसा विदित होता है छान्दोग्योपनिषद् के निम्न कथन से- **आपो व अन्नाद् भूयस् तस्माद् यदा सुवृष्टिर्न भवति व्याधीयन्ते प्राणाः अन्नं कनीयो भविष्यतीत्यथ यदा सुवृष्टिर्भवत्यानन्दिनः प्राणाः अवतन्यं बहु भविष्यति।**[१५] अर्थात् जब वृष्टि कम होती है तब मनुष्य यह सोचकर दुःखी होते हैं कि अन्न

---

[९] छान्दोग्य उपनिषद् 7/24/2

[१०] वैदिक इण्डेक्स भाग 1 पृ0 234

[११] छान्दोग्य 6/12/1

[१२] धाना रुह वै वृक्षः। बृहदा0 3/7/28

[१३] छान्दोग्य 6/12/1

[१४] छान्दोग्य 2/5/1

[१५] छान्दोग्य 7/10/1

कम उत्पन्न होगा तथा जब वृष्टि पर्याप्त होती है तब वे आनन्दित हो जाते हैं कि इससे अधिक अन्न उत्पन्न होगा। इस तरह पुष्कल अन्न की उत्पत्ति वृष्टि पर आधारित थी।[१६]

उपनिषद् में 10 प्रकार के ग्राम धान्यों के उत्पादन का वर्णन प्राप्त होता है- **दश ग्राम्याणि धान्यानि भवन्ति व्रीहियवास्तिलमाषा अनुप्रियंगवो गोधूमाश्च मसूराश्च फलवश्च खलकुलाश्च।**[17]

तत्कालीन कृषक कृषि भूमि के संरक्षण के लिए भी चिन्तित दिखाई देते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में वर्णन प्राप्त होता है कि कुरु देश की कृषि टिड्डी दल के आक्रमण से नष्ट हो गई थी। इससे वहाँ की आर्थिक स्थिति विपन्नता का प्राप्त हो गई थी।[१८] वर्ण व्यवस्था के आधार स्तम्भ थे। तत्कालीन ऋषि अधिक अन्न उत्पादन को उत्सुक दिखाई देते थे। उपनिषद् कालीन समाज में अर्थोपार्जन का एक अन्य महत्त्वपूर्ण साधन पशुपालन था। वर्तमान में कृषि भूमि को जोतने हेतु अनेक यन्त्र उपलब्ध हैं। किन्तु प्राचीनकाल में यह श्रमसाध्य कार्य पशुओं द्वारा किया जाता था। कृषि के अतिरिक्त यातायात, युद्ध, दुग्धादि पदार्थों की उपलब्धि के लिए पशुओं का उपयोग होता था। जिन पशुओं का पालन किया जाता था, उनमें गो, वृषभ, अश्व हाथी आदि प्रमुख हैं। गायों का पालन न केवल सामान्य

---

[१६] छान्दोग्य 5/10/5-6

[१७] बृ0 उप0 6/3/13

[१८] छान्दोग्य 1/10/1

गृहस्थ अपितु आचार्य जन भी करते थे। छान्दोग्योपनिषद् में हारिद्रुमत ऋषि अपने शिष्य को गायों की सेवा तथा संवर्धन हेतु भेजते हैं।[१९] स्वयं ऋषि घोषणा करते हैं- **गोकामा एव वयं स्मः।**[20] विद्वानों को राजा सम्मानित करने के उद्देश्य से गाय प्रदान करते थे। बृहदारण्यकोपनिषद् में विदेहराज ज़नक अनूचतम ऋषि को एक सहस्र गाय देने की घोषणा करते हैं- **क स्विदेषां ब्राह्मणानामनूचानतम इति स आह गवां सहस्रम् अवरुरोध। दश दश पादाः एकैकस्य श्रृंगयोराबद्धाः बभूवुः।**[21]

यह सूचित करता है कि समाज में गाय सम्पत्ति एवं सम्मान दोनों की द्योतक थी। महर्षि याज्ञवल्क्य इसी उद्देश्य से जनक की सभा में गये थे।[२२] गाय के अतिरिक्त हाथी तथा अश्वों का भी पालन किया जाता था। इनका उपयोग भारवहनार्थ तथा गमनागमनार्थ किया जाता था।[२३] हस्तिपालकों के ग्राम को इभ्य ग्राम नाम्ना सम्बोधित किया जाता था।[२४] अश्वों का प्रयोग युद्ध के अवसर पर किया जाता था। छान्दोग्योपनिषद् में उल्लेख प्राप्त होता है कि एक बार

---

[१९] छान्दोग्य0 4/4/5

[२०] बृहदा0 3/1/1

[२१] बृह0 3/1/1

[२२] तदेव 4/1/1

[२३] तदेव 5/14/8

[२४] छान्दोग्योपनिषद् 1/10/1

अश्वतरियों ने कुरुओं की रक्षा की थी।[२५] हाथी तथा अश्व उस समय आर्थिक समृद्धि के द्योतक थे।[२६] वाणिज्यक्रय विक्रय के द्वारा अर्थोपार्जन का प्रमुख साधन होता था। इसी का नामान्तर व्यापार भी है।[२७]

शास्त्रकारों का मत है कि यह मुख्यतया वैश्य वर्ण का कर्म है।[२८] उपनिषदों में भी इस तरह के संकेत प्राप्त होते हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् में उल्लेख प्राप्त होता है- **स नैव व्यभवत् सा विशमसृजत् यान्यैतानि देवजातानि गणशः आख्यायन्ते वसवो रुद्राः आदित्याः विश्वे देवा मरुत इति।**[२९] अर्थात् जब क्षत्रियों की रचना के अनन्तर ब्रह्म विभूतिमय कार्य करने में असमर्थ हुआ तब वैश्य की रचना की। वैश्य गणशः कार्य अर्थात् व्यापार करते हैं एकैकशः नही।[३०] इससे विदित होता है कि अर्थोपार्जन हेतु वैश्य है। वैश्य के निर्धारित कार्य कृषि-पशुपालन-व्यापार आदि एकाकी करना दुष्कर होता है। अतः एव वे गणशः समूह में रहकर कार्य करते थे। वाणिज्य में परिमाण अथवा प्रमाण की उपयोगिता सर्वविदित ही है। जिसका शाब्दिक अर्थ माप, तौल, मात्रा एवं आकार होते हैं। उपनिषदों में एतदर्थ ''पाद'' ''बन्द'' तथा ''मात्रा'' शब्दों का प्रयोग किया गया

---

[२५] तदेव 4/17/9-10

[२६] तदेव 7/24/2

[२७] वाणिज्य क्रय विक्रय व्यवहारः। मिताक्षरावृत्ति. गौ.ध.सू. 2/1/5

[२८] मनु0 1/90; गौ.ध0सू0 2/1/50; व0ध0सू0 2/18-19

[२९] बृ0 उप0 1/4/12

[३०] तदेव शांकरभाष्य

है। माण्डूक्योपनिषद् में मात्रा शब्द की व्युत्पत्ति बताते हुए लिखा है कि **सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रामितेरपीतेर्वा मिनोति हवा इदं सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद।**[३१]

यहाँ प्रयुक्त ''मिति'' तथा ''मिनोति'' दोनों परिमापार्थक शब्द महत्त्वपूर्ण हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि उपनिषद्कालीन समाज में लोग परिमाण अथवा मात्रा वाचक पदों से सुपरिचित थे- **वाणिज्यः क्रयविक्रयव्यवहारः।**[३२]

क्रय विक्रय का व्यवहार वाणिज्य होता है। आपाततः प्रश्न उपस्थित होता है कि उपनिषद् काल में किन पदार्थों का वाणिज्य होता था। उपनिषदों के अनुशीलन से अनेक ऐसे शिल्पों के संकेत प्राप्त होते हैं, जिनसे विदित होता है कि उस समय मनुष्य शिल्पों के माध्यम से जीविकोपार्जन करते थे। विभिन्न शिल्पों विकास स्वरूप शिल्प व्यापारी संगठित होने लगे थे। विनिमय हेतु निष्क तथा पाद आदि का प्रयोग होता था।

उपनिषद्काल में स्वर्ण का प्रयोग आभूषण निर्माणार्थ होता था। बृहदारण्यकोपनिषद् में प्राप्त होता है- **तद्यथा पेषस्कारी मात्रामपालायान्यन्यपत्रम्। यन्यवतरं कल्याणतरं रूपं तनुत एवमेवाय...।**[३३] आचार्य शंकर पेषस्कारी का अर्थ सुवर्णकार करते हैं।[३४]

---

[३१] माण्डूक्योपनिषद् 11

[३२] मिताक्षरावृत्ति, गो0ध0सू0 2/1/5

[३३] बृ0उप0 4/4/4

[३४] पेषः सुवर्णम् तत्करोतीति पेषस्कारी सुवर्णकारः। तदेव शांकरभाष्य

इसके अतिरिक्त स्वर्णनिर्मित निष्क का वर्णन भी उपनिषदों में प्राप्त होता है।[३५] इससे ज्ञात होता है कि उपनिषत्कालीनसमाज में सुवर्ण का वाणिज्य किया जाता है।

स्वर्ण के अतिरिक्त लौह तथा मिट्टी से निर्मित पदार्थों का वर्णन भी उपनिषदों में प्राप्त होता है। नाखून कटने के उपकरण का निर्माण लोहे से किया जाता था।[३६] मिट्टी के विकार मृण्मय पदार्थों के संकेत छान्दोग्योपनिषद् में मिलते हैं।[३७] यज्ञीय अनुष्ठानों में इष्टिका का उपयोग उस समय किया जाता था।[३८] वासस्शब्द से वस्त्र का व्यापार करने वाले बुनकरों का संकेत प्राप्त होता है।[३९] वस्त्र निर्माणार्थ सूत्र का उपयोग किया जाता है।[४०] काशी नरेश अजातशत्रु गूढ़ दार्शनिक तत्वों को समझाने के लिए तन्तु का दृष्टान्त देते हैं। विशिष्ट आयोजनों में पहने जाने वाले सुवसन का उल्लेख द्योतित करता है कि उस समय वस्त्र निर्माण की कला पर्याप्त विकसित हो चुकी थी।[४१] वाणिज्य हेतु वस्तुओं को लाने के लिए शकट की आवश्यकता होती है। भारवाही शकट का उल्लेख छान्दोग्योपनिषद् में

---

[३५] छान्दोग्य 4/2/1

[३६] तदेव 6/1/6

[३७] तदेव 6/1

[३८] कठो0 1/1/15

[३९] बृह0 उप0 2/3/6

[४०] बृह0 उप0 2/4/40; छान्दो0 उप0 6/8/2

[४१] छान्दो0 उप0 8/8/2

समुपलब्ध होता है।[४२] रथ का प्रयोग भी तत्कालीन समाज में किया जाता था।[४३] जिनसे परिलक्षित होता है कि उपनिषद् कालीन जन इनसे सुपरिचित थे। इस प्रकार उपनिषदों के अनुशीलन से तत्कालीन समाज में प्रचलित आर्थिक संसाधनों का ज्ञान होता है। कृषि एवं पशुपालन उस समय जीविकोपार्जन के प्रमुख साधन थे। क्षत्रियों की रचना के पश्चात् ब्रह्म ने विभूतिमय:कार्यों के सम्पादनार्थ वैश्य की रचना की थी। वैश्य गण निर्धारित कृषि पशुपालन तथा व्यवसाय आदि कार्य करते थे। अन्नोत्पादन की व्यग्रता तत्कालीन ऋषियों में स्पष्टतया देखी जा सकती है। ब्राह्मण दान दक्षिणा आदि के द्वारा अथवा विद्युत्सभाओं में शास्त्रार्थ के द्वारा भी अर्थोपार्जन करते थे। महर्षि याज्ञवल्क्य[४४] तथा उषस्ति चाक्रायण[४५] आदि विद्वानों ने अपने ज्ञान कौशल से अर्थोपार्जन किया था। अनेक शिल्पकारों यथा सुवर्णकार, लौहकार, वस्त्रकार, कुम्हार आदि का वर्णन भी उपनिषदों में प्राप्त होता है। इससे स्पष्ट है कि यह सभी अपने अपने शिल्पों से अर्थोपार्जन करते रहे होंगे। विनिमयार्थ निष्क तथा पाद आदि का उपभोग प्रचलन में था।

❑

---

[४२] छान्दो0उप0 4/1/2

[४३] कठो0 1/3/3; श्वेवाश्वर0 1/4

[४४] बृह0उप0 3/1

[४५] छान्दोग्य0 1/11/3

पावमानी मार्च २०१७ अंक ३२/२-३ ISSN २२२९-६३२८ UGC पत्रिका सं. ४०९५२

त्रैतवाद - मुण्डकोपनिषद् के परिप्रेक्ष्य में

डॉ० अभिमन्यु[1]

इस धरा पर मानव ने जब से नेत्र उन्मीलन किया, अपने सर्वतोदिक् परिवेश में सृष्टि के विविध रूपों का विस्तार पाया और अपने चारों ओर अनन्त आकाश में विस्तृत इस सृष्टि की उत्पत्ति की वास्तविकता को जानने के लिए आकृष्ट हुआ। उस अनादि से उत्पन्न इस सृष्ट्युत्पत्ति-सम्बन्धिज्ञान-तृष्णा का आकर्षण आज भी मानव मस्तिष्क को भ्रमित कर रहा है और कदाचित् अनादि काल तक करता रहे। सृष्टि की उत्पत्ति में मूलभूत तत्त्व कितने हैं? इस प्रश्न पर जब विचार करते हैं तो प्रमुखतया निम्नलिखित विचारधारायें प्राप्त होती हैं-१. एकत्ववाद, २. द्वैतवाद, ३. त्रैतवाद।

१. एकत्ववाद-

एकत्वाद वह सिद्धान्त है, जो यह कहता है कि सृष्टि की उत्पत्ति जड़ तत्त्व से या चेतन तत्त्व से हुई है। जड़ से सृष्टि की उत्पत्ति हुई है, इस सिद्धान्त को स्वीकार करने वाले आत्मा और परमात्मा जैसे चेतन तत्त्वों को नहीं मानते और इस सिद्धान्त के पोषक पुरा युग में चार्वाक तथा वर्तमान युग में जड़वादी-भौतिकवादी (डंजमतपंसपेजे) हैं। चेतन से सृष्ट्युत्पत्ति मानने वाले जीवात्मा की पृथक्, स्वतन्त्र अनादि सत्ता नहीं मानते- इसका प्रतिनिधित्व भारतीय दार्शनिकों में मुख्य तौर पर शंकराचार्य के वेदान्त सिद्धान्त की, पाश्चात्य दार्शनिकों में मुख्य तौर पर स्पाइनोजा (१६३२-१६७७) तथा बर्कले

[1] सहायकाचार्य, संस्कृत विभाग, कला संकाय, दयालबाग एजूकेशनल इन्स्टिट्यूट (मानित विश्वविद्यालय) दयालबाग, आगरा-282005

(१६८५-१७५३) की और मतवादियों में यहूदी, ईसाई एवं मुसलमानों की है। यहूदी, ईसाई तथा मुसलमान मानते हैं कि ईश्वर एक है, उसी ने अभाव से, नेस्ति से, जगत् तथा जीवन को उत्पन्न कर दिया है। जैसे भारत में आचार्य शंकर (७८८-८२०) अद्वैतवाद के प्रबल समर्थक हुए, वैसे पाश्चात्य जगत् में बर्कले ने अद्वैतवाद विचारधारा का प्रबल समर्थन किया। उसने कहा कि जगत् के पदार्थों की अपने आप में सत्ता नहीं है। वे मन की ही उपज हैं। अगर द्रष्टा न रहे तो दृश्य नहीं रहता, द्रष्टा के कारण ही दृश्य पदार्थों की सत्ता है। वह कहता है कि एक तरफ द्रष्टा है, मन से देखने वाला मनुष्य, दूसरी तरफ सूर्य तक फैला हुआ 'दृश्य' जगत् है। सूर्य की किरणें नभोमण्डल से चलती हुई मेरी आँख पर पड़ती है, आँख से भीतर रैटिना पर पड़कर मस्तिष्क तक पहुँचती हैं, जिनका मन द्वारा ग्रहण होता है और द्रष्टा सूर्यादि जगत् को देखता है। इस देखने में मन का सूर्य तक सम्बन्ध जुड़ जाता है। अगर मन न देखे तो सूर्य तक सारा जगत् दृश्य की कोटि में न आये। इसलिए मन से सूर्य तक जितना जगत् है उसे दृश्य-कोटि में मन ही लाता है, मन न हो तो जगत् का अस्तित्त्व नेस्ति हो जाता है। यही कारण है कि बर्कले जगत् को अपने मन की उपज मानता है।

२. **द्वैतवाद**-

यह विचारधारा दो मूलभूत सत्ताओं को स्वीकार करती है- चेतन-पुरुष (जीव) और अचेतन-प्रकृति। दोनों का स्वतन्त्र अस्तित्त्व होने पर भी परस्पर सहयोग से ही सर्ग आदि जगत् कार्य का निर्वाह सम्भव है। यह धारणा भारतीय विचारकों में सांख्य दर्शन की कही जाती है। इसका कहना है कि १. जो भौतिक पदार्थ हैं, वे अपने लिए नहीं किसी दूसरे के लिए होते हैं। जैसे बिस्तर, बिस्तर पर नहीं सोता, दूसरा कोई बिस्तर पर सोता है। २. प्रकृति तीनों गुणों से युक्त है, अतः

दृश्य और अविवेकी है और प्रकृति दृश्य और अविवेकी है, तो किसकी अपेक्षा से यह दृश्य और अविवेकी है? ३. संसार की सभी त्रिगुणात्मक वस्तुओं का उससे भिन्न कोई न कोई अधिष्ठाता (स्वामी) अवश्य है। ४. संसार के सब विषय भोग्य हैं, इनका कोई न कोई भोक्ता है। ५. और इस दुःखात्मक संसार से मुक्त होने की प्रवृत्ति देखे जाने से चेतन जीव और अचेतन प्रकृति की सत्ता सिद्ध होती है। यही कारण है कि सांख्य द्वैतवाद को स्वीकार करता है।[२] पाश्चात्य विचारकों में केवल इन दो तत्त्वों को मानने वाले कोई विशेष चिन्तक नहीं हुए हैं। सांख्य के निरीश्वरवादी होने में विद्वानों में मतभेद है। ऋषि दयानन्द ने सांख्य को सेश्वरवादी ही माना है।

३. **त्रैतवाद**–

यह विचारधारा तीन मूलभूत सत्ताओं को स्वीकार करती है- १. ईश्वर, २. जीव, ३. प्रकृति। रामानुजाचार्य (जन्म १०१७) तथा मध्वाचार्य (जन्म ११९९) भी ईश्वर तथा जीव की पृथक्-पृथक् सत्ता स्वीकार करते थे। महर्षि दयानन्द (१८२४-१८८३) ने त्रैतवाद सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है और अनेक पण्डितों ने सांख्य दर्शन के सूत्रों का भाष्य त्रैतवाद परक ही किया है। प्रकृत स्थल पर इसी त्रैतवाद सिद्धान्त का प्रतिपादन मुण्डकोपनिषद् के परिप्रेक्ष्य में किया जायेगा।

मुण्डकोपनिषद् में आत्मा और परमात्मा को सर्वथा भिन्न रूप में वर्णन किया गया है तथा इन चेतन सत्ताओं से सर्वथा भिन्न अचेतन प्रकृति का निर्देश

---

[२]संघातपरार्थतत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययात् अधिष्ठानात्।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च।। सांख्यकारिका- १७

है। जिसका वर्णन यहाँ आलंकारिक रूप में किया गया है[३] कि एक वृक्ष पर एक जैसे दो पक्षी बैठे हैं, उनमें से एक वृक्ष के फलों को भोगता है और दूसरा न भोगता हुआ पहिले की गतिविधि का सूक्ष्म निरीक्षण कर रहा है। यहाँ जीवात्मा और परमात्मा को दो पक्षी और प्रकृति को वृक्ष कहा गया है। जीवात्मा तथा परमात्मा की समानता (सयुजौ सखायौ) उनकी चेतन स्वरूपता के आधार पर कही गई है। जीवात्मा प्रकृति का भोग करता है, इसलिए उसका प्रकृति के साथ भोग्य भोक्तृत्व सम्बन्ध है। परमात्मा प्रकृति को प्रेरणा करके उसके द्वारा इस जगत् को उत्पन्न करता है और यथावसर उसमें प्रलीन करता है, इसलिए उसका प्रकृति के साथ प्रेर्य-प्रेरकत्व सम्बन्ध है। वृक्ष पर दोनों पक्षी बैठे हैं, परन्तु उनका कार्य अपना अलग-अलग है। (स्वामी दयानन्द ने तो ऐसा अर्थ किया ही है परन्तु अन्य विद्वानों की भी इस विषय में पूर्णतया सहमति है- सायणाचार्य लिखते है- **अत्र लौकिकपक्षिद्वयदृष्टान्तेन जीवपरमात्मानौ स्तूयेते।**[४] आचार्य यास्क ने भी ऐसा ही लिखा है- **द्वौ द्वौ प्रतिष्ठितौ सुकृतौ धर्मकर्त्तारौ।**[५] अर्थात् जीव और ब्रह्म दोनों धर्म करने वालों की यहाँ प्रतिष्ठा दिखाई गई है। आचार्य शंकर ने मुण्डकोपनिषद् के भाष्य में तथा वेदान्त दर्शन के भाष्य में इस मन्त्र को इसी प्रकरण में लिया है। वे लिखते हैं- **विशेषणं च विज्ञानात्परमात्मनोरेव भवति। 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' इत्यदन-लिंगाद्विज्ञानात्मा भवति। 'अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति'**

[३]द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यश्नन्योऽभिचाकशीति।। मुण्डक, ३/१/१

[४] ऋग्वेद-१/१६४/२०, सायणभाष्य

[५] निरुक्त- १४/३२

इत्यनशनचेतनाभ्यां परमात्मा।"[६] अर्थात् यहाँ विशेषण अलग-अलग दिये गये हैं। 'अदनलिंगात्' अर्थात् फल को खाने वाला होने के कारण जीवात्मा का ग्रहण होता है और न खाने तथा चेतनत्व के कारण परमात्मा का ग्रहण होता है। यहाँ जीवात्मा और परमात्मा दोनों को सहयोगी बताते हुए उनकी दो सत्ताओं का प्रतिपादन किया गया है)। इस प्रकार मुण्डक उपनिषद् की इस: कण्डिका में ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीनों के पृथक् अस्तित्त्व का स्पष्ट उल्लेख है।

इस उपनिषद् के दूसरे खण्ड की चौथी कण्डिका में जीवात्मा को परमात्मा तक पहुँचाने के लिए एक सुन्दर रूपक के द्वारा कहा है।[७] प्रणव (ओंकार) रूपी धनुष पर आत्मा रूपी बाण को रख कर ब्रह्मरूपी लक्ष्य की ओर प्रमादरहित होकर छोड़ दो, आत्मा ब्रह्म के समीप पहुँच जायेगा। यहाँ जीवात्मा, उपासक ब्रह्म उपास्य तथा प्रणव को उपासना का साधन बताया गया। इसके आगे छठी और सातवीं कण्डिका में प्रथम जीवात्मा के स्वरूप का वर्णन करके ओंकार उपासना के द्वारा उसका साक्षात्कार किये जाने का निर्देश है। उसका साक्षात्कार हो जाने पर आनन्दस्वरूप परमात्मा के दर्शन का उल्लेख किया गया है।[८] इन वर्णनों से जीवात्मा और परमात्मा के पृथक् अस्तित्त्व का स्पष्टीकरण होता है।

---

[६] वेदान्तदर्शन शंकर भाष्य, १/२/१२

[७] प्रणवो धनु: भारो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन बेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्।। मुण्डक, २/२/४

[८] अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्य:
स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमान:।
ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं
स्वस्ति व: पाराय तमस: परस्तात्।।

इसके अतिरिक्त जगत् सर्ग के प्रसंग में उपनिषत्कार ने उदाहरणों के द्वारा इस बात को स्पष्ट किया है कि किस प्रकार अथवा किन साधनों से परमात्मा इस जगत् को बनाता है।

यथोर्णनाभिः सृजते गृहण्ते च यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति।
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाक्षरात् संभवतीह विश्वम्॥[१]

मुण्डक उपनिषद् की इस कण्डिका के आधार पर अनेक विद्वानों ने यह प्रकट करने का यत्न किया है कि जगत् ब्रह्म का परिणाम है। परन्तु इन वाक्यों पर गम्भीरता पूर्वक विचार करने से दूसरा ही भाव स्पष्ट होता है। अक्षर ब्रह्म, जगत् को उत्पन्न करता है, इस अर्थ को युक्तिपूर्वक स्पष्ट करने के लिए कण्डिका में तीन उदाहरण दिये गये हैं- १. मकड़ी का जाला बुनना और उसका उपसंहार करना। २. पृथिवी में औषधियों का उत्पन्न होना। ३. विद्यमान पुरुष से केश लोम आदि का उत्पन्न होना। इन सब उत्पत्ति स्थलों में जिस प्रकार उत्पन्न कार्यों से चेतन-तत्त्व का सम्बन्ध प्रकट होता है, उसी प्रकार जगदुत्पत्ति में अक्षर ब्रह्म का सम्बन्ध समझना चाहिए।

प्रथम उदाहरण के आधार पर यही स्पष्ट होता है कि जिस प्रकार मकड़ी जाले को बुनती है और यथावसर उसका उपसंहार कर लेती है, इसी प्रकार अक्षर ब्रह्म इस जगत् को बनाता और प्रलय करता है। जाला बनाने के लिए भौतिक

यः सर्वज्ञः सर्वविधास्यैषः महिमा भुवि।
दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः॥
मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं संनिधाय।
तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति॥ मुण्डक, २/२/६-७

[१] मुण्डक, १/१/७

शरीर के लाला तन्तुओं का उपयोग होता है और इस उपयोग को करने वाली वह चेतन सत्ता है, जो वहाँ अधिष्ठाता रूप में बैठी हुई है। यदि वह चेतन स्फुरण न हो, तो केवल चेतन इस जाले की रचना नहीं कर सकता। इससे स्पष्ट होता है कि चेतन सत्ता की प्रेरणा से भौतिक लालातन्तु जालों के रूप में परिणत होता है। इसलिए वह जाला उन भौतिक तत्त्वों का परिणाम्म कहा जा सकता है, चेतन सत्ता का नहीं। अर्थात् चेतन सत्ता स्वयं जाले के रूप में परिणत नहीं होती। इसी प्रकार अक्षर ब्रह्म स्वयं जगत् रूप में परिणत नहीं होता। प्रत्युत उसका शरीर रूप प्रकृति, उसकी प्रेरणा से इस विश्व ब्रह्माण्ड के रूप में परिणत होती रहती है। शरीर और आत्मा, प्रकृति और परमात्मा अथवा अचेतन और चेतन ये दोनों पृथक् स्वतन्त्र सत्ता हैं। अचेतन शरीर तथा चेतन आत्मा है।

तृतीय उदाहरण में केश और लोमों की उत्पत्ति शरीर में, शरीर के अवयव रूप भौतिक तत्त्वों से होता है। आत्मा स्वयं केश और लोमों के रूप में परिणत नहीं होता। जब तक शरीर में आत्मा बैठा हुआ है। तभी तक वहाँ केश और लोमों की उत्पत्ति हो सकती है, तथा वह शरीरावयवों से हो सकती है। केवल आत्मा से नहीं। केश और लोम परिणाम, शरीरावयवों का है, तथा आत्मा प्रेरक नियन्ता व अधिष्ठाता है। केश तथा लोम, आत्मा अथवा चेतन पुरुष का परिणाम नहीं हैं।

इन दो उदाहरणों में हम लौकिक कार्य, उनके मूल उपादान और नियन्ता अधिष्ठाता का संकेत पाते हैं। किन्तु तृतीय उदाहरण जो उपनिषत्कार ने दूसरे नम्बर पर दिया है- केवल दो भावों का संकेत है - कार्य और उसके मूल उपादान - **यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति** औषधि, वनस्पति आदि पृथिवी से उत्पन्न होते हैं। यहाँ औषधि आदि कार्य तथा उनके मूल उपादान पृथिव्यादि का निर्देश है, उनके नियन्ता अथवा अधिष्ठाता का नहीं। प्रथम दो उदाहरणों में उपनिषत्कार तीनों भावों की स्थिति

को समझाकर तीसरे उदाहरण में केवल दो का निर्देश करके उनके अन्तर्यामि अधिष्ठाता के अस्तित्त्व की ओर संकेत करना चाहता है। इस प्रकार लौकिक स्थिति से अलौकिक स्थिति को समझने में सरलता हो जाती है। फलत: यह उपनिषद् ईश्वर, जीव और प्रकृति के पृथक्-पृथक् अस्तित्त्व को स्वीकार करती है। किस उद्देश्य से यह सृष्टि बन रही है- जैसे घड़े का उद्देश्य पानी भरना है, वैसे सृष्टि का उद्देश्य जीवात्मा को कर्मफल देना है। उसे विकास मार्ग पर डाल देना है। प्रकृति, परमात्मा के साथ जीवात्मा न हो तो सृष्टि का गोरखधन्धा एक लीला मात्र, खेल मात्र रह जाता है। इन सब कारणों से सृष्टि की रचना में त्रैतवाद की उपयोगिता सिद्ध होती है और यह उपनिषद् इसी तथ्य का प्रतिपादन करती है।

पावमानी मार्च २०१७ अंक ३२/२-३ ISSN २२२९-६३२८ UGC पत्रिका सं. ४०९५२

उपनिषदों में ब्रह्मतत्त्व-विमर्श

डॉ० रवि प्रभात[१]

सम्पूर्ण जगत् त्रिविध तापों से परिपूर्ण है। आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक- इन तीन तापों से संतप्त-संत्रस्त ज़गत् को इनसे सर्वथा मुक्ति प्रदान करने के लिए मन्त्रदृष्टा ऋषियों ने अपनी नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा द्वारा सूक्ष्मातिसूक्ष्म चिन्तन से प्राप्त प्रज्ञासत्य के तार्किक विवेचन से जिस तत्त्व का अन्वेषण किया, भारतीय परम्परा उसे 'दर्शन' के नाम से जानती है, जिसके वैशिष्ट्य के सम्बन्ध में कहा गया है-

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां शाश्वदान्वीक्षिकी मता॥

ऋषियों द्वारा अन्विष्ट दर्शन तत्त्व अन्य सम्पूर्ण विद्याओं के चिन्तन मनन से उत्पन्न भ्रमरूप अन्धकार के विनाश हेतु दीप-सदृश है। समस्त कर्मों के अनुष्ठान का एकमात्र साधन है तथा समस्त धर्मों का आधार है।

यह तथ्य निर्भ्रान्त रूप में मान्य है कि भारतीय दार्शनिक चिन्तनधारा का उद्गम ऋग्वेद में है। ऋग्वेद में दार्शनिक चिन्तन के मूल तत्त्व प्राप्त होते हैं। वहाँ महर्षि प्रजापति परमेष्ठी जगत् के मूल तत्त्व की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि- **आनीदवातं स्वधया तदेकम्।** ऋग्वेद १०/११९/२

अर्थात् सृष्टि के आरम्भ में एक ही तत्त्व वायु के बिना अपनी शक्ति से श्वास लेता था। इसी प्रकार आङ्गिरस ऋषि वस्तुगत सत्य की पहचान के लिए

---

[१] **सहायकाचार्य, संस्कृत विभाग, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक**

तर्क की उपयोगिता को संकेतित करते हुए कहते हैं- **संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्** (ऋग्० १०/१९१/२) अर्थात् परस्पर मिलो, विषय का विवेचन करो और एक दूसरे को पहचानो। इन दोनों ऋचाओं में दार्शनिक विचारधारा के पृथक् स्रोत उपलब्ध हैं।

पहला प्रज्ञामूलक है- जो अपनी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के द्वारा तत्त्वों का विवेचन करता हुआ अद्वैत तत्त्व पर स्थिर हो जाता है और दूसरा तर्कमूलक- जो अपनी तार्किक बुद्धि द्वारा तत्त्वों की समीक्षा करता हुआ अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होकर अभीष्ट सिद्धिरूपी सीमा पर विरत होता है। वेद केवल दार्शनिक चिन्तनधारा के ही नहीं अपितु सृष्टि में विद्यमान समस्त ज्ञान-विज्ञान के आदि स्रोत हैं। महामनीषी भगवान् मनु ने इसीलिए वेद को '**सर्वज्ञानमयो हि सः**' कहा है।

वैदिक वाङ्मय मुख्यतः तीन भागों में विभक्त है- १. संहिता २. ब्राह्मण ३. उपनिषद्। इस प्रकार उपनिषद् वैदिक वाङ्मय के विकास के तीसरे सोपान पर है।

उपनिषद् :-तत्त्वज्ञान तथा धर्म-सिद्धान्तों का मूल स्रोत 'उप' और 'नि' उपसर्गपूर्वक 'सद्लृ गतौ' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय के योग से निष्पन्न 'उपनिषद्' शब्द उस विद्या का अर्थवाची है, जिसके द्वारा व्यक्ति परमात्मा के अत्यन्त निकट पहुँच जाता है। 'उपनिषद्' आरण्यकों के विशिष्ट अङ्ग हैं। भारतीय तत्त्वज्ञान तथा धर्म-सिद्धान्तों के मूल स्रोत होने का गौरव उपनिषदों को प्राप्त है। वैदिक धर्म की मूल तत्त्व प्रतिपादित प्रस्थानत्रयी[२] में मुख्य उपनिषद् ही 'वेदान्त' के नाम से

---

[२]प्रस्थानत्रयी में उपनिषद् गीता और ब्रह्मसूत्र आते हैं।

विख्यात है। वेदान्त में वेद के अन्तिम भाग उपनिषद् का अध्यात्म ही विकसित हुआ। वेदान्तसार के प्रणेता 'सदानन्द' ने स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है-

'वेदान्तो नामोपनिषत्प्रमाणं तदुपकारीणि शारीरिकसूत्रादीनि च।

वेदान्तसार पृ. २

अर्थात् जिसमें उपनिषदों के वाक्य प्रमाणस्वरूप दिये गये हैं अथवा जीव का सम्यक् सूक्ष्म विवेचन किया गया है, वह वेदान्त है।

इसीलिए '**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा**' इत्यादि शारीरिक सूत्रों तथा श्रीमद्भगवद्गीता इत्यादि आध्यात्मिक शास्त्रों को भी 'वेदान्त' कहा गया। तात्पर्य यह है कि मूलरूप में उपनिषद् ही वेदान्त के नाम से जाने गये। इन्हीं उपनिषदों के आधार पर जिस धार्मिक एवं दार्शनिक चिन्तन परम्परा का विस्तार हुआ, वह सब वेदान्त के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उपनिषपद् शब्द ज्ञानकाण्ड के उस विशाल दार्शनिक साहित्य का द्योतक है, जो वैदिक कर्मकाण्ड की प्रतिक्रिया स्वरूप उत्पन्न हुआ था। उपनिषद् मुख्यतया ब्रह्मविद्या का संकेतक हैं, क्योंकि इस विधा के अनुशीलन से मुमुक्षु जनों की संसार-बीज-रूपी अविद्या नष्ट हो जाती है, वह ब्रह्म की प्राप्ति करा देती है तथा मनुष्य के गर्भवास, जन्म, जरा, मृत्यु आदि दु:ख सर्वथा शिथिल हो जाते हैं।

अविद्यादे: संसारबीजस्य विशरणाद् विनाशनाद् परं ब्रह्म वा गमयतीति ब्रह्मगमयितृत्वेन योगाद् गर्भवासजन्मजराद्युपद्रववृन्द्य लोकान्तरे पौन:पुन्येन प्रवृत्तस्य अवसादयितृत्वेन वा ब्रह्मविद्योपनिषद्। शांकरभाष्य

इसीलिए आचार्यशंकर के मत में उपनिषद् का मुख्य अर्थ ब्रह्मविद्या तथा गौण अर्थ 'ब्रह्मविद्या प्रतिपादक ग्रन्थविशेष' है। प्राचीन उपनिषदों ने वैदिक देवताओं से ऊपर उठकर एक अनाम-रूप ब्रह्म को ही इस विश्व का स्रष्टा,

नियन्ता तथा पालनकर्ता विवेचित किया है। इस दृष्टि से छान्दोग्य, ईश, तैत्तिरीय, ऐतरेय, प्रश्न, मुण्डक तथा माण्डूक्य उपनिषद् अनामरूप ब्रह्म के प्रतिपादक होने से प्राचीनतम माने गये हैं।[३] कठोपनिषद् में विष्णु को और कृष्ण यजुर्वेदीय उपनिषदों में महादेव को परमेश्वर के रूप में प्रतिष्ठित किया है।

उपनिषदों में ब्रह्म का स्वरूप:

एकमेवाद्वितीयम्-

ब्रह्म एक ऐसी सर्वव्यापी सत्ता है, जो सृष्टि के अणु-अणु में परिव्याप्त है। जो निराकार, निर्विकार, अविनाशी, अनादि चैतन्य तथा आनन्दमय है। ब्रह्म अनन्त एवं अद्वितीय है। वह नाम रूपादि से हीन है। वह निरपेक्ष स्वतन्त्र शुद्ध तथा अतीन्द्रिय सत्ता है। वह कर्ता नहीं है, अतः निष्क्रिय है। समग्र जगत् ब्रह्म का ही विवर्त है। आदि के रूप में ब्रह्म के स्वरूप विवेचन की जो सुदीर्घ परम्परा भारतीय दार्शनिक ग्रन्थों में प्राप्त होती है,[४] उसका मूल उपनिषद् ही है।

अयमात्मा ब्रह्म, सर्वं खल्विदं ब्रह्म, अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि जैसे उपनिषद् वाक्यों में व्यक्त सिद्धान्त का व्यापक सूक्ष्मातिसूक्ष्म, गहन और तत्त्वपूर्ण विवेचन परवर्ती भारतीय दार्शनिक ग्रन्थ और साहित्य में अनेक प्रकार से हुआ है।

जैसे मृत्तिका ही सत्य है और उससे बने भाण्ड केवल नाममात्र के विकार हैं, उसी प्रकार ब्रह्म ही सत्य है। छान्दोग्य उपनिषद् स्पष्टतः इस सत्य तत्त्व का उद्घोष करता है-

---

[३]संस्कृत साहित्य के वैदिक काल का इतिहास, पृ. १७०-१७२

[४]द्रष्टव्य वेदान्तसार, विवेकचूड़ामणि आदि

सदेव सौम्येदग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्, तदैक्षत एकोऽहं बहु स्याम्, यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञानं स्यात् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्। छान्दोग्योपनिषद्- ६/२/१

बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है कि जैसे धधकती हुई आग से चारों ओर चिंगारियां निकलती हैं, उसी प्रकार ब्रह्म से यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होता है-

स यथा अग्नेः क्षुद्राः विस्फुलिंगा व्युच्चरन्ति स्वमेवास्मादात्मनः (ब्रह्मणः) सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देशाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति।

बृहदा.३

श्वेताश्वतर उपनिषद् निरूपित करती है कि वही एक ब्रह्म आत्मा के रूप में सम्पूर्ण जीवों में व्याप्त है- **एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा** (श्वेताश्वतर उप० ६/११)। बृहदारण्यक उपनिषद् के मत में जिस प्रकार पानी में घुला नमक दिखाई नहीं देता पर वह जल के अणु-अणु में व्याप्त रहता है, उसी प्रकार ब्रह्म सृष्टि के कण-कण में परिव्याप्त है-

स यथा सैन्धवाखिल्य उदके प्रास्त उदकमेवानुविलीयेत् न ह अस्य उद्ग्रहणाय इव स्याद्यतो यतस्त्वाददीत लवणमेवैकं वा अरे इदं महद्भूतम् अनन्तम् अपारं विज्ञानधन एव। बृ०उ० ३

समग्र जगत् जिस ब्रह्म का विवर्त है, जो सृष्टि के कण कण में परिव्याप्त है, जो सर्वव्यापी है अनन्त एवं अद्वितीय है, उस ब्रह्म का स्वरूप क्या है? केनोपनिषद् में इसी गूढ़ तत्त्व को बड़े ही सुन्दर और सुबोध ढंग से समझाया गया है। वहाँ आरम्भ में ही यह प्रश्न उपस्थित हुआ है कि-

केनेषितं पतति प्रेषितं मनः, केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः।
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति॥ केन १.१

और इस प्रश्न के उत्तर में परब्रह्म को ही मन, प्राण एवं इन्द्रियाँ का प्रेरक कहा गया है-

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः।
चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः, प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥ केन. १.२

अतीन्द्रिय और सर्वशक्तिमान्-

केनोपनिषद् में ब्रह्म को वाणी, नेत्र तथा कर्ण आदि इन्द्रियों से परे कहा गया है। वाणी जिसका वर्णन नहीं कर सकती, अपितु जिसकी शक्ति से वह बोलने में समर्थ होती है, वह ब्रह्म है-

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ केन. १.४

इसलिए वाणी के द्वारा व्यक्त जिस तत्त्व की उपासना की जाती है, वह ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप नहीं है। वह तो वाणी से सर्वथा परे है। केनोपनिषद् के गुरु-शिष्य संवाद में गुरु स्पष्टतः प्रतिपादित करते हैं कि परब्रह्म को मन के द्वारा भी कोई नहीं जान सकता अपितु जिसकी शक्ति से मनन क्षमता का विकास होता है वह परब्रह्म है।[५] जिसे आंख देख नहीं सकती अपितु जिसकी शक्ति से आंख देखने में समर्थ होती है वह परब्रह्म है।[६] कान जिसकी महिमा नहीं सुन सकते अपितु जिसकी शक्ति या प्रेरणा से कान को शब्दग्रहण की योग्यता मिली है वह

[५] केनोपनिषद्- १/५-८

[६] वही- १/६

पावमानी मार्च २०१७ अंक ३२/२-३ ISSN २२२९-६३२८ UGC पत्रिका सं. ४०९५२

छान्दोग्योपनिषद् में ओंकार का स्वरूप

डॉ० (श्रीमती) मधु सत्यदेव[1]

'**ओमित्येतदक्षरम्**' इत्यादि मन्त्र से आरम्भ होने वाला यह आठ अध्यायों का ग्रन्थ छान्दोग्योपनिषद् है। 'ओम्' रूप इस अक्षर की ही उद्गीथ शब्द वाच्य परमात्मा के रूप में उपासना करनी चाहिए।[2]

इन चराचर जीवों का रस-आधार पृथ्वी है, पृथ्वी का रस आधार अथवा कारण जल है, जल का रस-उस पर निर्भर रहने वाली औषधियां हैं, औषधियों का रस-उनसे पोषण करने वाला मनुष्य-शरीर है, मनुष्य का रस-प्रधान अंग वाणी है, वाणी का रस-सार ऋचा है, ऋचा का रस साम है और साम का रस उद्गीथ (ओंकार) है। इनमें से जो आठवाँ अर्थात् सबसे अन्तिम रस उद्गीथ ओंकार है, वह समस्त रसों में उत्कृष्ट रस है। अत: यह सर्वश्रेष्ठ एवं परब्रह्म आत्मा का धाम-आश्रय है। वस्तुत: वाणी ही ऋचा है, प्राण साम है, 'ओम्' यह अक्षर ही उद्गीथ है। जो वाणी और प्राण तथा ऋचा और साम है, दोनों एक ही जोड़ा हैं- दो नहीं हैं अर्थात् वाणी अथवा ऋचा तथा प्राण अथवा साम एक दूसरे के पूरक हैं। वाणी और प्राण अथवा ऋचा अथवा साम का यह जोड़ा 'ओम्' रूप इस अक्षर में भलीभाँति संयुक्त किया जाता है। जिस समय स्त्री और पुरुष आपस में प्रेमपूर्वक मिलते हैं, उस समय अवश्य ही एक दूसरे की कामना पूर्ण करते हैं।

---

[1] **संस्कृत विभाग, दी०द०उ० गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर**

[2] (क) ओमित्येतदक्षरमिति छान्दोग्योपनिषत्।
तस्या: संक्षपतोऽर्थजिज्ञासुभ्य ऋजुविवरणमल्पग्रन्थमिदमारभ्यते।
(ख) ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत्।
ओमितिह्युद्गायति तस्योपव्याख्यानम्।। छान्दोग्य० १

तृतीय एवं चतुर्थ खण्ड में एक रोचक आख्यान[1] द्वारा परब्रह्म की सर्वशक्तिमत्ता तथा देवताओं की अल्पशक्तिमत्ता का सुन्दर निदर्शन है, उस सर्वशक्तिमान् परब्रह्म के साक्षात्कार का एकमात्र उपाय मिथ्याभिमान का त्याग और ध्यान योग परायण होना ही है। मुण्डकोपनिषद् का यही कथन है-

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः॥

मुण्डकोपनिषद् ३.१.८

मुण्डकोपनिषद् कर्मकाण्ड की हीनता तथा दोषों का निदर्शन करता है और ब्रह्मज्ञान की श्रेष्ठता प्रतिपादित करता है। द्वैतवाद का प्रधान स्तम्भरूप **द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया** (३/१/१) मन्त्र इस उपनिषद् में आता है। वेदान्त शब्द का प्रथम प्रयोग भी यहीं उपलब्ध होता है (३.२.६)।

सूक्ष्मतर और प्रकाशरूप

वह ब्रह्म सूक्ष्म से सूक्ष्मतर रूप में प्रकाशित होता है-

सूक्ष्माच्च तत् सूक्ष्मतरं विभाति। मुण्डको. ३/१/७

नेह नानास्ति किञ्चन का गम्भीर शंखनाद करने वाले 'कठोपनिषद्' में भी परब्रह्म परमात्मा को सूक्ष्म से भी अतिसूक्ष्म और महान् से भी महान् निरूपित किया गया है। कृष्णयजुर्वेद की कठशाखा का अनुवर्ती यह उपनिषद् अपने गम्भीर अद्वैत तत्त्व निरूपण के लिए नितांत प्रख्यात है। तैत्तिरीय आरण्यक में संकेतित नचिकेता की उपदेशपरक कथा से आरम्भ हुए इस उपनिषद् में नचिकेता के विशेष आग्रह पर यम उसे अद्वैततत्त्व का मार्मिक तथा हृदयंगम उपदेश देते हैं।

---

[1]उमाहैमवती का रोचक आख्यान केनोपनिषद् में वर्णित है।

उपनिषद् के अनुसार वह परब्रह्म परमात्मा सूक्ष्म से भी अतिसूक्ष्म और महान् से भी महान् है। वह सर्वव्यापी होते हुए भी जीवात्मा के हृदयरूपी गुफा में निवास करता है, उस ब्रह्म की महिमा को कामनारहित और चिंतारहित कोई विरला ही साधक उसकी कृपा से देख पाता है-

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः॥

कठ. १/२/२०

वहाँ स्पष्ट रूप से यह भी निरूपित किया गया है-

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमैवेष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्।

वही. १/२/२३

जीवात्मा के लिए कर्मानुसार विविध भोगों का निर्माण करने वाला वह परमपुरुष प्रलय काल में सब जीवों के सो जाने पर भी अपनी महिमा में नित्य जागता रहता है।

वही परमशुद्ध तत्त्व है, उसी को अमृतस्वरूप परमात्मा कहा जाता है। समस्त लोक उसी का आश्रय पाये हुए हैं। उसके नियमों का कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता। समग्र ब्रह्माण्ड के प्रकाशक सूर्य की तरह वह समस्त प्राणियों की आत्मा में निवास करता हुआ भी उनके कर्मफल से निर्लिप्त रहता है-

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा, न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः।

कठ. २/२/११

इसी परब्रह्म के भय से अग्नि तपता है, इसी के भय से सूर्य तपता है और इसी के भय से इन्द्रादि देव सक्रिय हैं।

परब्रह्म के साक्षात्कार का एकमात्र साधन योग है। मूंज से इषीका (सींक) के समान इस शरीर के भीतर विद्यमान आत्मा की उपलब्धि योग द्वारा करनी चाहिए, कठोपनिषद् का यही व्यावहारिक उपदेश है। ब्रह्म के स्वरूप-निर्णय का विनिश्चय 'कठोपनिषद्' **अङ्गुष्ठमात्रैव पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः** (२/१/१३) इन शब्दों में व्यक्त करता है।

सर्वं खल्विदं ब्रह्म

'श्वेताश्वतरोपनिषद्' में जीवात्मा को **'अंगुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपसंकल्पाहंकारसमन्वितो यः'**[१०] निरूपित किया गया है। वहाँ जीवात्मा का स्वरूप निर्धारित करते हुए कहा गया है कि वह जीवात्मा इतना सूक्ष्म है कि बाल की नोंक के सौवें भाग के फिर सौ भाग कर दिये जाने पर जो एक भाग होता है वही उसका आकार समझना चाहिए तथापि वह अनन्त है। यहां जो जीवात्मा का स्वरूप बताया गया है वही स्वरूप परब्रह्म परमात्मा का भी स्थिर किया गया है, इससे स्पष्ट है कि उपनिषदों में परमात्मा और जीवात्मा के अभेदत्व की स्पष्टतः घोषणा की गई है– ऋग्वेद एवं उपनिषद् में प्राप्त मन्त्र में दर्शनशास्त्र के मौलिक तत्त्वों का प्रतिपादन हुआ है–

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।।[११] **व**[१२]

सृष्टि में परमात्मा जीवात्मा और प्रकृति तीन अनादि अनन्त मौलिक तत्त्व हैं। परमात्मा प्रकृति के द्वारा सृष्टि की रचना करता है और जीव उस सृष्टि में अपने कर्मों

---

[१०] श्वेता० ५/८

[११] ऋग्वेद १/१६४/२०

[१२] श्वेताश्वतरोपनिषद् ४/७, मुण्डकोपनिषद् ३/१/१

के अनुसार सुख दुःख रूप फलों का भोग करता है। इस तत्त्व दर्शन को उक्त मन्त्र में एक रूपक द्वारा कहा गया है। प्रकृति एक विशाल पिप्पल वृक्ष के रूप में है। परमात्मा और जीवात्मा दोनों सुन्दर पंखों वाले साथ रहने वाले और मित्ररूप पक्षी हैं। वे दोनों पक्षी एक समान वृक्ष अर्थात् प्रकृति पर स्थित हैं (**समानं वृक्षं परिषस्वजाते**) उन दोनों में से एक जीवात्मा उस वृक्ष के फलों को खाता है और दूसरा पक्षी (परमात्मा) फलों का भोग न करता हुआ (**अनश्नन्**) सृष्टि में चारों ओर अपने सौन्दर्य को प्रकाशित करता है। काव्य की कलात्मक भाषा में जिस दार्शनिकतत्त्व का निदर्शन यहां है, वह स्पष्ट ही जीवात्मा, परमात्मा और प्रकृति को अनादि तत्त्व के रूप में प्रस्तुत करता है। छान्दोग्य उपनिषद् में वर्णित प्रसिद्ध शाण्डिल्य विद्या '**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**' (३/४/२) के उद्घोष से आरम्भ होती है ब्रह्म और आत्मा की एकता का प्रतिपादन करती हुई समाप्त होती है। इसी ऐक्य की अभिव्यक्ति सर्वाधिक सशक्त रूप में 'तत्त्वमसि' महावाक्य में हुई है। उपनिषदों में आत्मा की अजरता, अमरता और नित्यता का उद्घोष स्पष्ट रूप से हुआ है[१३] और यही स्वर भगवद्गीता का भी है।[१४] वस्तुतः जीवात्मा परमात्मा का ही सनातन अंश है[१५], तत्त्वतः उनमें कोई भेद नहीं है।

निष्कर्ष-

उपर्युक्त विवेचन का सार यही है कि उपनिषद् भारतीय दर्शनशास्त्र के दर्पण है, जिनमें अध्यात्मशास्त्र के मौलिकतत्त्व उपस्थित हैं। वेदान्त उपनिषद् को ही प्रमाण मानकर चलता है। सर्वमान्य उपनिषदों में '**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**' का उद्घोष किसी न किसी रूप में ध्वनित है। ईशोपनिषद् जहाँ ज्ञान दृष्टि से कर्म की उपासना का रहस्य समझाता है निष्काम भाव से कर्म-सम्पादन का पक्षधर है, वहाँ वह अद्वैत भावना का

---

[१३]कठोपनिषद् ५/१८

[१४]गीता २/२०

[१५]वही १५/७

पोषक भी है। केनोपनिषद् उपास्य ब्रह्म और निर्गुण ब्रह्म में पृथक्त्व का निदर्शन कराता हुआ ब्रह्म के रहस्यमय स्वरूप का संकेत देता है। कठोपनिषद् अपने गम्भीर अद्वैत तत्त्व के लिए भी विख्यात है, वहाँ एक ब्रह्म को ही समस्त प्राणियों की आत्मा में निवास करने वाला बताया गया है और उसी के साक्षात्कार का एकमात्र साधन माना गया है। ब्रह्म साक्षात्कार के प्रधान साधन योग की चर्चा भी यहां है।

मुण्डकोपनिषद् कर्मकाण्ड की हीनता का उपस्थापन करता हुआ, ब्रह्मज्ञान की श्रेष्ठता प्रतिपादित करता है, जबकि माण्डूक्योपनिषद् में आत्मा का बड़ा ही मार्मिक तथा रहस्यमय विवेचन है। छान्दोग्य उपनिषद् तो ब्रह्मज्ञान प्रतिपादन की दृष्टि से उपनिषदों में नितान्त प्रौढ़ प्रामाणिक और प्रमेय बहुल है **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** और **तत्वमसि** जैसे अद्वैत प्रतिपादक दार्शनिक वाक्य इसी उपनिषद् में हैं। आत्मोपलब्धि के व्यावहारिक उपायों का सुन्दर संकेत यहीं मिलता है। **'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेयि** (२/४/५) के रूप में आत्मा का दर्शन प्रस्तुत करने वाला बृहदारण्यकोपनिषद् तत्त्वज्ञान और अध्यात्म शिक्षा का अनुपम ग्रन्थरत्न है। तात्पर्य यह है कि इन उपनिषदों में ब्रह्मतत्त्व का निरूपण विशद रूप में प्राप्त होता है। एक ही परम सत्ता की प्रतिष्ठा इन उपनिषदों में प्राप्त होती है जैसा कि महानारायणोपनिषद् में कहा गया है-

यस्मात्परं नाऽयमस्ति किञ्चिद्यस्मिन्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्।

अनुवाक्. ९/४

❑

पावमानी मार्च २०१७ अंक ३२/२-३ ISSN २२२९-६३२८ UGC पत्रिका सं. ४०९५२

उपनिषदों में जीवतत्त्व निरूपण

डॉ. सुरेन्द्र कुमार[१]

चर्चित कुमार[२]

सम्पूर्ण विश्व में उपनिषद् ग्रन्थों का स्थान बहुत ऊँचा माना जाता है। अध्यात्म ज्ञान का विशद विवेचन उपनिषदों में है। उपनिषदों के मुख्य विषय जगत्-जीव व ब्रह्म माने जाते हैं। उपनिषद् वेदों के अभिन्न अंग हैं।

उपनिषद् शब्द का अर्थ मानक हिन्दी कोश के अनुसार उप-निसद् (गति आदि)+क्विप् अथवा सद्+णिच+क्विप् प्रत्यय के योग से निकलता है- १. किसी के पास बैठना, २. ब्रह्म-विद्या को प्राप्ति के लिये गुरू के पास जाकर बैठना। ३. वेदों के उपरांत लिखे गये वे ग्रन्थ जिनमें भारतीय आर्यो के गूढ़ आध्यात्मिक तथा दार्शनिक विचार भरे हैं। ४. धर्म ५. निर्जन स्थान।[३]

जीव की परिभाषा

ब्रह्मसूत्र भाष्यकार आचार्य शंकर ने जीव की परिभाषा देते हुए कहा है कि वह आत्मा जो शरीर और इन्द्रियरूपी पंजर का स्वामी है तथा कर्मफल से सम्बन्ध रखता है, वही जीव है।[४]

दार्शनिक जगत् में जीवात्मा परिणाम के सम्बन्ध में बहुत मत प्राप्त होते हैं परन्तु मुख्यतः तीन मान्यताएँ प्रचलन में हैं। जैन दर्शन का मध्यम परिणामवाद, अद्वैतवादियों का विभु परिमाणवाद तथा अन्य सिद्धान्तवादियों का अणु परिणामवाद[५]।

इन मान्यताओं को देखते हुए अधिकतर मत जीवात्मा में अणु परिमाण की पुष्टि करते हैं। न्याय सिद्धान्त में जीवात्मा विभु परिमाण वाला न होकर अणु परिमाण वाला ही है।[६] पण्डित उदयवीर शास्त्री जी अणु परिमाण स्वीकारने वाले दार्शनिकों के विषय में अपनी पुस्तक सांख्य सिद्धान्त में कपिल मुनि और पंचशिख का उल्लेख करते हैं।[७] अत: इससे स्पष्ट होता है कि साख्य दर्शन के आचार्यों द्वारा जीवात्मा अणु परिमाण वाला है। उपनिषद् भी इस बात को स्वीकार करती हुई कहती हैं कि शरीर के भीतर हृदय के मध्य भाग में मन द्वारा ज्ञातृरूप से जानने में आने वाला यह सूक्ष्म जीवात्मा है।[८] सूजे की नोक के जैसा सूक्ष्म आकारवाला जीवात्मा है और परमात्मा से भिन्न है।

ज्ञानी पुरुषों ने जीव तत्व को जानकर गुण से युक्त जीवात्मा का स्वरूप ऐसा ही देखा है।[९] अर्थात् यह आत्मा वास्तव में अत्यन्त सूक्ष्म है। कहा जाये तो सूक्ष्म से भी अधिक सूक्ष्म स्वरूप वाला है। और अधिक गहराई में जाये तो उपनिषद् कहता है कि बाल की नोक के सौवे भाग के पुन: सौवे भागों में अर्थात् बाल की नोक के दस हजार भाग करने पर उनमें से एक भाग जितना सूक्ष्म हो सकता है, उसके समान जीवात्मा का स्वरूप समझना चाहिए।[१०]

जीव विषयक मत

जीवात्मा के सम्बन्ध में श्रीमद्‌भगवद्‌गीता में कहा गया है कि आत्मा के लिए किसी भी काल में न तो जन्म है, न मृत्यु। वह न तो कभी जन्मा है न जन्म लेता है और न जन्म लेगा। वह अजन्मा, नित्य, शाश्वत तथा पुरातन है। शरीर के

मारे जाने पर वह मारा नही जाता।[११] अत: यह जीव की नित्यता का प्रमाण है। जीवात्मा की नित्यता सिद्ध करने के लिये "**नात्माऽश्रुतेर्नित्याच्च ताभ्य:। सांऽत एव**।।[१२] कहा गया है कि जीवात्मा वास्तव में उत्पन्न नहीं होता। क्योंकि श्रुति में कहीं भी जीवात्मा की उत्पत्ति नहीं बताई गई, इसके आधार पर ही इसकी नित्यता सिद्ध की गयी है। यह जन्म-मरण से रहित है, ऐसा बादरायण व्यास लिखते हैं। आचार्य शंकर ब्रह्मसूत्रभाष्य से जीवात्मा को शरीर व इन्द्रिय रूपी पंञ्जर का स्वामी बताते हुये कर्मफल का सम्बन्धी कहते हैं।[१३] तथा इनके अनुसार अविद्या, काम और मन शारीरिक तंत्र (शरीर, इन्द्रियाँ एवं अन्त:करण) जीव की उपाधियाँ हैं।[१४] वशिष्ठ राम से कहते हैं कि मनुष्य के भीतर जो चेतना है वह न जन्म लेता है न मरता है, भ्रमवंश संसार की परिस्थितियों को स्वप्न की भाँति अनुभवमात्र करता है? यह शरीर तो मरते जीते रहते हैं, आत्मा तो अक्षय स्थित होता है।[१५] गीता में जीवात्मा को प्रकृति, क्षेत्रज्ञ, अध्यात्मादि नाम से सम्बोधित किया जाता है।[१६] इस जीवात्मा को जीव, चेतना, जीवात्मा, चित्त, बुद्धि, अहंकार, मन, ब्रह्म, परमात्मा, देह धृति, स्वभाव, धर्म, सूर्य, अग्नि तथा वायु इन संज्ञाओं से हिन्दी संस्कृत कोश में सम्बोधित किया गया है।[१७]

अन्य मतों की तुलना में ऋषियों ने उपनिषदों में जीवतत्व पर अद्‌भुत व अप्रतिम विचार किया है। सभी उपनिषदों में जीव के स्वरूप का वर्णन विभिन्न प्रकार से दिया गया।

मुण्डकोपनिषद्

जीवात्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है कि जिस शरीर को प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान- इन पांच भेदों वाला प्राण प्रविष्ट होकर चेष्टायुक्त कर रहा है उसी शरीर के भीतर हृदय के मध्य भाग में मन द्वारा ज्ञाता रूप में आने वाला यह सूक्ष्म ज़ीवात्मा भी रहता है परन्तु समस्त प्राणियों के समस्त अन्तःकरण प्राणों से ओतप्रोत हो रहे हैं। अर्थात् इस प्राण और इन्द्रियों को तृप्त करने के लिये उत्पन्न हुई नाना प्रकार की भोग वासनाओं से मलिन और क्षुब्ध हो रहे हैं। इसी कारण सभी लोग परमात्मा को नहीं जान पाते। अन्तःकरण के विशुद्ध होने पर ही यह जीवात्मा सब प्रकार से समर्थ होता है।[१८] इस उपनिषद् में जीवात्मा का शरीर में स्थान व उसके अणुपरिमाण वाद को दर्शाया है।

छान्दोग्योपनिषद्

आत्मा का स्वरूप बताते हुए छान्दोग्योपनिषद् कहता है कि यह आत्मा पापरहित, जरारहित, मृत्युरहित, शोकरहित, क्षुधाहीन, तृषाहीन, सत्यकाम और सत्य संकल्प है।[१९] यह जो पुरुष समस्त प्राणियों के नेत्रों में दिखाई देता है। वह आत्मा है, अमृत है। अभय है तथा यही ब्रह्म है और यही समस्त ब्रह्माण्ड में प्रतीत होता है।[२०] इस उपनिषद् में जीवात्मा के गुणों का गुणगान करते हुए उसे ब्रह्म की संज्ञा दी गयी है। इसी श्रृंखला में शांकर भाष्य के अनुसार साधना करते-करते जिनकी इन्द्रियाँ समस्त विषयों से निवृत्त हो चुकी हैं, जिसके समस्त राग-द्वेषों का नाश हो

चुका है, उन योगियों को जो नेत्र के भीतर द्रष्टा पुरुष दिखाई देता है, वह अपहतपाप्मादि गुणों वाला आत्मा है, इसी का ज्ञान हो जाने पर सम्पूर्ण लोकों की कामनाओं की प्राप्ति हो जाती है।[२१]

केनोपनिषद्

केनोपनिषद् में जीवात्मा के स्वरूप को समझाते हुए कहते हैं कि यह जीवात्मा परब्रह्म का अंस है, उससे भिन्न नहीं हैं यह समस्त प्राणिक जातियों में विचरण कर रहा है। इसके द्वारा ही मन, बुद्धि, प्राण तथा इन्द्रियां कार्य करती हैं। जीवात्मा और समस्त विश्व ब्रह्माण्ड में व्याप्त जो ब्रह्म की शक्ति है, उस सबको मिलाकर भी देखा जाये तो वह ब्रह्म एक अंश ही रहेगा अत: केनोपनिषद् के अनुसार जीवात्मा ब्रह्म का अंश है, यह सिद्ध होता है।[२२]

श्वेताश्वतरोपनिषद्

श्वेताश्वतरोपनिषद् में आत्मा का स्वरूप बताते हुए कहते हैं कि मनुष्य के हृदय का माप अंगुष्ठमात्र के बराबर है, जिसमें जीवात्मा निवास करता है। इसलिए इसे अंगुठे के नाप का कहा गया है। परन्तु उसका वास्तविक स्वरूप सूर्य की भांति प्रकाशमय (विज्ञानमय) है, उसे अज्ञानरूपी अन्धकार छू भी नही सकता है। वह संकल्प और अहंकार इन दोनों से युक्त है। अत: संकल्प आदि बुद्धि के गुणों से अर्थात् अन्त:करण और इन्द्रियों के धर्मों से तथा अहंता, ममता और आसक्ति आदि अपने गुणों से सम्बद्ध होने के कारण सूजे की नोक के समान सूक्ष्म आकार वाला है और परमात्मा से भिन्न है।[२३] जीवात्मा की सूक्ष्मता को और अधिक

प्रमाणित करने के लिये श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा गया है कि यदि एक बाल की नोंक के सौ टुकड़े कर दिये जाए फिर उनमें से एक टुकड़े के पुनः सौ टुकड़े कर दे, उसके एक टुकडे जितना जीवात्मा सूक्ष्म है। अर्थात् बाल की नोक के दस हजार भाग करने से भी सूक्ष्म वह जीवात्मा है। वास्तव में चेतन और सूक्ष्म वस्तु का स्वरूप जड़ और स्थूल वस्तु की उपमा से नहीं समझाया जा सकता क्योंकि बाल की नोक के दस हजार भागों में से एक भाग भी आकाश में जितने देश को रोकता है उतना भी जीवात्मा नहीं रोकता। अन्ततः यह कहा जा सकता है कि केवल बुद्धि तथा अहंकारादि गुणों के कारण यह एक देशीय प्रतीत होता है।[२४] जीवात्मा वास्तव में न तो स्त्री है न पुरुष है और न नपुंसक है। यह जब जिस शरीर को ग्रहण करता है, उस समय उससे संयुक्त होकर वैसा ही बन जाता है। जो जीवात्मा आज स्त्री है वही दूसरे जन्म में पुरुष हो सकता है, जो पुरुष है, वह स्त्री हो सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि ये स्त्री, पुरुष और नपुसंक आदि उपाधियों से रहित है।[२५] जीवात्मा अपने किये हुए कर्मों के संस्कारों से बुद्धि, मन, इन्द्रिय तथा पंञ्चभूत-इनके समुदाय रूप शरीर के धर्मो से युक्त होने के कारण अहंता ममता आदि अपने गुणों के वशीभूत होकर अनेक शरीर धारण करता है।[२६] जीवात्मा नाना योनियों के साथ सम्बन्ध जोड़ने वाला बताया गया है। जो अन्तर्यामीरूप से मनुष्य की हृदयरूपी गुहा में स्थित तथा निराकार रूप से समस्त जगत् में व्याप्त है। जिसका न तो आदि है और न अन्त है अर्थात् जो उत्पत्ति, विनाश और वृद्धि-क्षय आदि सब प्रकार के विकारों से सर्वथा शून्य सदा एकरस

रहने वाला हैं तथा जो समस्त जगत् की रचना करके विविध रूपों में प्रकट होता है। इस प्रकार सम्पूर्ण जगत् को इन्होंने घेरे रखा है उन एक मात्र सर्वाधार सर्वशक्तिमान्, सबका शासन करने वाले सर्वेश्वर परब्रह्म पुरुषोत्तम को जानकर यह जीवात्मा सदा के लिए समस्त बन्धनों से सर्वथा के लिए मुक्त हो जाता है।[२७]

कठोपनिषद्

कठोपनिषद् के अनुसार जीवात्मा नित्य, चेतन ज्ञान स्वरूप है, अनित्य, विनाशी, जड़ शरीर और भोगों से वास्तव में इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। यह अनादि और अनन्त है, न तो इसका कोई कारण है और न कार्य। यह जन्ममरण से सदा रहित एक रस एवं सर्वथा निर्विकार है। शरीर के नाश से उसका नाश नहीं होता है। यह जीवात्मा न तो किसी काल में जन्म लेता है और न मरता है। यह तो अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है, शरीर के मर जाने पर यह नहीं मरता है। जो मनुष्य इसे मरने वाला या मारने वाला मानते हैं वे वस्तुतः आत्मस्वरूप को जानते ही नहीं, वे सर्वथा भ्रान्त एवं मूढ हैं। जीवात्मा वस्तुतः न तो किसी को मारता है और न ही इसे कोई मार सकता है।[२८]

बृह्मदारण्यकोपनिषद्

बृह्मदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है कि समस्त प्राणियों में जो प्राण के रूप में बुद्धि वृत्तियों के भीतर रहने वाला विज्ञानमय ज्योतिःस्वरूप पुरुष है। वह बुद्धि वृत्तियों के सदृश ही इस लोक एवं परलोक में भी संचार करता है एवं बुद्धि की भांति चिन्तन करता है, प्राणवृत्ति के अनुसार चेष्टा करता है। वही स्वप्न में

देहेन्द्रिय सङ्घात का अतिक्रमण करता है। वही आत्मा है।[२९] आत्मा की अमरता को बताते हुए बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा गया है कि यह आत्मा महान् एवं अजन्मा है, समस्त वायुओं में प्राणवायु और कोशों में विज्ञानमय कोश है तथा यह हृदय में शयन करता है। यह स्वामी को वश में रखता है तथा सभी का अधिपति है। यह आत्मा शुभ कर्मों से बढ़ता नहीं है तथा अशुभ कर्मो से छोटा नहीं होता है। यह सर्वेश्वर के समान समस्त भूतों का अधिपति एवं उसका पालन करने वाला है। लोगों की मर्यादा के कारण ही वह इनको धारण करने वाला सेतु है। इस आत्मा को जानने के लिए ही वेदों के स्वाध्याय, यज्ञ, दान एवं निष्काम कर्म तक किये जाते हैं। इसी को जानने की इच्छा से त्यागी पुरुष सब कुछ त्याग देते हैं।[३०] इस आत्मा पर किसी भी प्रकार के कर्मों का का प्रभाव नहीं पड़ता है, यह कर्मों में लिप्त नहीं होता। अतः आत्मा को जानने वाला शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु और समाहित होकर आत्मा में ही आत्मा को देखता है तथा सभी में अपने आत्मस्वरूप को ही देखता है, वह सम्पूर्ण पापों से मुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त करता है।[३१]

❑

सन्दर्भ सूची

१. **डॉ सुरेन्द्र कुमार, सहायकाचार्य,** योग विज्ञान विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

२. **चर्चित कुमार, शोधछात्र,** योग विज्ञान विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

३. रामचन्द्र वर्मा-मानक हिन्दी कोश पहला खण्ड, पृ० ३६२

४. बस्यात्माजीवाख्य: शरीरे इन्द्रियपञ्जराध्यक्ष:, कर्मफल सम्बन्धी, शंकर भाष्य, ब्र. सू. २/३/१७

४. उपनिषदों का तत्त्वज्ञान, डॉ. जयदेव वेदालंकार।

५. न्यायसिद्धान्त हिन्दी टीका, पृष्ठ-७२,७३

७. सांख्यसिद्धान्त पृष्ठ-१९

८. मुण्डक ३/९ एषोऽणुरात्मा चेतसावेदितव्य:

९. आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपिदृष्ट:। श्वेता श्वतरोपनिषद् ५/८।

१०. बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्यच।। श्वेताश्वतरोपनिषद् ५/९

११. न जायते म्रियते वा कदाचिन, नामंभूत्वा भविता वा न भूय:।
अजोनित्य शाश्वतोऽयं पुराणों, न हन्यते हन्यमाने शरीरे।। श्रीमद्भागवतगीता २/२०

१२. ब्रह्मसूत्र २/३/१७-१८

१३. शंकर भाष्य ब्रह्मसूत्र २/३/१७

१४. जीवो बुद्ध्याद्युपाधिपरिच्छेयाभिमानी। शंकरभाष्य १/२/६

१५. न जायते म्रियते चेतना पुरुष क्वचित। स्वप्नसंभ्रमवद् भान्तेतत्पश्य केवलम्।।

पुरुषश्चेतमात्र स कदा मेव नश्यति। चेतनत्यष्टिरिक्तत्वे वदान्यात्किं पुमान्भवेत्। कोऽध यावन्मृतं ब्रुहि चेतन कस्य किं कथम म्रियते देह लक्षाणि चेत। स्थित भक्षयम्।। योग विशिष्ठ।

१६. गीता १५/१६-२०

१७. हिन्दी संस्कृत कोश, रामस्वरूप शास्त्री, पृष्ठ-४६

१८. मुण्डकोपनिषद् ३/१/९

१९. छान्दोग्योपनिषद् ८/७/३

२०. छान्दोग्योपनिषद् ८/७/४

२१. शा० भा० छान्दोग्योपनिषद् ८/७/४

२२. केनोपनिषद् २/१

२३. श्वेताश्वतरोपनिषद् ५/८

२४. श्वेताश्वतरोपानिषद् ५/९

२५. श्वेताश्वतरोपनिषद् ५/१०

२६. श्वेताश्वतरोपनिषद् ५/१२

२७. श्वेताश्वतरोपनिषद् ५/१३

२८. कठ १/२/१९-२०

२९. बृह्मदारण्यकोपनिषद् ४/३/७

३०. बृह्मदारण्यकोपनिषद् ४/४/२२

३१. बृह्मदारण्यकोपनिषद् ४/४/२३

पावमानी मार्च २०१७ अंक ३२/२-३ ISSN २२२९-६३२८ UGC पत्रिका सं. ४०९५२

शाङ्करभाष्यसन्दर्भे प्रश्नमाण्डूक्योपनिषदोः प्रणवस्वरूपविमर्शः

वेदांशुः[1]

सर्गादौ निसर्गाङ्के यदा मानवः स्वचक्षुषी उदमीलयत्तदात्मानम् एतादृशायां सृष्टावलभत यस्यां परमात्मनः उत्पन्नानि सर्वाण्यपि साधनभूतानि वस्तूनि तस्य जीवनाय उपलब्धान्यासन्[2] परं मानवीयजीवनस्य जगतश्चानित्यत्वमवलोक्य तस्य मनसि केचन प्रश्नाः समुद्भूताः तद्यथा- अस्य जगतः कारणं किम्? वयं कुतः समुद्भूताः? अस्माकं प्राणाः, वाक्, चक्षूंषि केन निर्दिश्यन्ते?[3] किं तत्त्वं यदनित्येषु पदार्थेषु नित्यं वर्तते? इत्यादयः। एतेषां समेषामुत्तराणि वेदस्य यस्मिन् भागे चर्चितानि स भागः वेदान्त इति नाम्ना अभिहितः। यतो हि पुरुषार्थचतुष्टयसम्पन्नसाधकस्य वेदस्य चरमलक्ष्यं परमतत्त्वाधिगम एव वर्तते। वेदान्त इत्येतेन वेदस्यान्तिमे भागे स्थिताः उपनिषद एव गृह्यन्ते।[4]

उप+नि पूर्वात् "षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु"[5] इति धातोः क्विप्प्रत्यययोगेन[6] उपनिषद् इति शब्दः निष्पद्यते। अस्यार्थः गुरोः निकटं गत्वा निश्चयेन निश्शेषेण वा यया विद्यया आत्मनः स्वरूपमवगम्यते, अविद्यादेः संसारबीजस्य विशरणाद्, जन्मजरादिदुःखजातं विनश्यते, सा विद्या उपनिषद्

---

[1] शोधच्छात्रः, जवाहरलालनेहरुविश्वविद्यालयः, नवदेहली-६७

[2] तस्माद्वा एतस्मादात्मनः .... अन्नात् पुरुषः। स वा एषः पुरुषोऽन्नरसमयः। तै.उ. २.१

[3] (क) श्वेत.उप. १.१ (ख) केन उप. १.१

[4] वेदान्तसार

[5] धातुपाठ भ्वा. पृ. १८

[6] अष्टाध्यायी ३.२.६१

ब्रह्मविद्या वा कथ्यते। मुक्तिकोपनिषदि अष्टोत्तरएकशतोपनिषदामुल्लेखः प्राप्यते परम् आचार्यशङ्करस्य भाष्यं दशोपनिषत्स्वेवोपलभ्यते।

उपनिषदां प्रतिपाद्यविषयः प्रख्यात एव। उपनिषदां प्रयोजनम् आत्यन्तिकी संसारनिवृत्तिः परमतत्त्वस्य च प्राप्तिर्वर्तते। उपनिषत्सु परमतत्त्वस्य निर्देशाय ब्रह्म, प्रणवः, ओम्, उद्गीथः, देवः, इन्द्रः, आत्मा, महेश्वरः, पुरुष इत्यादयः शब्दा उपलभ्यन्ते। समेषामपि स्वीयं वैशिष्ट्यं वर्तते। प्रत्येकं शब्दः ब्रह्मणो वैशिष्ट्यमभिव्यनक्ति। परमेतेषु नामसु ब्रह्मणः प्रियं नाम ओ३म् इति वर्तते, यस्योच्चारणेन ब्रह्म प्रसीदति। यथोक्तं छान्दोग्योपनिषदः शाङ्करभाष्ये- **ओमित्येदक्षरं परमात्मनोऽभिधानं नेदिष्ठम्। तस्मिन् हि प्रयुज्यमाने स प्रसीदति प्रियनामग्रहण इव लोकः।**[७]

ओम्, ओङ्कारः, उद्गीथः इत्येतेऽस्य पर्यायवाचिनः सन्ति।[८] प्रपूर्वकं णु स्तुतौ इत्येतस्माद्धातोः अप्प्रत्ययपूर्वकं प्रणवः इति शब्दः सिध्यति। प्रणवस्य निरुक्तिं कुर्वन्नुच्यत अथर्वशिरोपनिषदि- **अथ कस्मादुच्यते प्रणवः- यस्मादुच्चार्यमाण एव ऋग्यजुःसामाथर्वाङ्गिरसश्च यज्ञे ब्रह्म च ब्राह्मणेभ्यः प्रणामयति तस्मादुच्यते प्रणवः।**[९]

ओङ्कारः, प्रणवोऽथवोद्गीथो वा भारतीयसंस्कृतेः प्रत्येकस्मिन् क्षेत्रे अनुस्यूतो वर्तते। ऋग्यजुस्सामज्ञातार ऋत्विजः स्व-स्व कर्माणि सम्पादयितुम् आरम्भे ओङ्कारमेव प्रयुञ्जते।

---

[७] छा.उप. १.१.१ शा.भा. पृ. २३

[८] अमरकोष १.६.४

[९] अथर्वशिरोपनिषदि

.... ओमिति सामानि गायन्ति। ओं ओमिति शस्त्राणि शंसन्ति। ओमित्यध्वर्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति। ओमिति ब्रह्म प्रसौति।[१०]

वेदाध्ययनस्यारम्भे ओङ्कारस्योच्चारणमनिवार्यं वर्तते।[११] यज्ञदानतपःक्रियासु अस्य प्रयोगः याज्ञिकैः परापरब्रह्मवादिभिश्च अपरिहार्यरूपेण क्रियते। यथोच्यते च श्रीमद्भगवद्गीतायाम्–

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।

प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्॥ गीता १७/२४

न केवलं कर्मकाण्डे अपितु ज्ञानकाण्डभूतासूपनिषत्सु परापरब्रह्मत्वेन पदे पदे अस्य चर्चा समुपलभ्यते। परापरब्रह्मणो ज्ञानार्थम् ओङ्कारस्य मात्रापूर्वकं ज्ञानमनिवार्यं वर्तते–

...........एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः, तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति।[१२]

प्रश्नोपनिषदि ओङ्कारः–

ओङ्कारस्य स्वरूपं प्रश्नोपनिषदि तिसृषु मात्रासु माण्डूक्योपनिषदि च चतुर्षु पादेषु वर्णितमस्ति। प्रश्नोपनिषदनुसारं यदि कश्चन एकमात्रविशिष्टम् ओङ्कारं ध्यायति चेत् तस्य स्वरूपबोधे सति सः पृथिवीलोकं प्राप्य मनुष्ययोनिमेति एत्य च ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नः महिमानमनुभवति।[१३]

---

[१०] तै.उप. १.८

[११] (क) मनु. २.७४ (ख) तै.उप. १.८

[१२] प्रश्नोप.

[१३] तदेव ५.३

यदि कश्चन द्विमात्रविशिष्टम् ओङ्कारं ध्यायति चेत् मनोयुक्तस्सः यजुर्भि सोमात्मकम् अन्तरिक्षलोकं नीयते। तत्र च सोमलोकस्थां विभूतिमनुभूय सः पुनः पृथिवीलोकं प्रत्यागच्छति।[१४]

यदि कश्चन त्रिभिर्मात्राभिः ओङ्कारं ध्यायति सूर्यलोकं गच्छति ततश्च सामभिः सः ब्रह्मलोकं नीयते तत्र सः जीवनात् परं पुरिशयं पुरुषं पश्यति। यथा सर्प जीर्णत्वचा निर्मुच्यते तथा साधकः जन्ममरणचक्रान्मुच्यते।[१५] एतस्मिन् सन्दर्भे उपनिषदः मूलपाठे आगता '**त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण**' इत्यस्मिन् विषये शङ्कराचार्यस्य मतमस्ति यत् अत्र ओङ्कारस्य परापरब्रह्मणा अभेदसम्बन्ध अस्ति अतः ओङ्कारः साधनं नास्ति अपितु आलम्बनं वर्तते फलतः तृतीयाभिधाने सत्यपि प्रसंगानुसारं द्वितीया विधेया- **प्रकृतम् ओङ्कारस्य परं चापरं च ब्रह्मेत्यभेदश्रुतेः .... यद्यपि तृतीयाभिधानेन करणत्वमुपपद्यते तथापि प्रकृतानुरोधात्त्रिमात्रं परं पुरुषमिति द्वितीयैव परिणेया।**[१६]

एताः तिस्रोऽपि मात्राः मृत्युमत्यः सन्ति। य एताः सर्वाः सम्यक् जानाति सः न कदापि विचलितो भवति। अस्य व्याख्यां कुर्वन् शङ्कराचार्यः कथयति यत्- **यस्मात् जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तपुरुषाः सह स्थानैर्मात्रात्रयरूपेण ओंङ्कारात्मरूपेण दृष्टाः स ह्येवं विद्वान् सर्वात्मभूत ओङ्कारमयः कुतो वा चलेत् कस्मिन् वा।**[17]

माण्डूक्योपनिषदि ओङ्कारः-

---

[१४] तदेव ५.४

[१५] तदेव ५.५

[१६] तदेव शा.भा. पृ.

[१७] प्रश्नोप. ५.६ शा.भा.

माण्डूक्योपनिषदि अप्युच्यते यत् सर्वं त्रिकालमयं त्रिकालातीतं च वर्तते तत्सर्वम् ओङ्कार एवास्ति। स च ब्रह्मस्वरूप ओङ्कारः चतुष्पात् वर्तते।[१८] अत्र ओङ्कारब्रह्मणोर्मध्ये वाच्य-वाचकयोरुभयोः प्रधानत्वं प्रदर्श्य उपनिषत्कारस्य प्रयोजनम् उभयोः एकत्वप्रतिपादनं वर्तते-

अभिधानाभिधेययोरेकत्वेऽप्यभिधानप्राधान्येन निर्देशः कृतः। ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वमित्यादि। अभिधानप्राधान्येन निर्दिष्टस्य पुनरभिधेयप्राधान्येन निर्देशोऽभिधानाभिधेययोरेकत्वप्रतिपत्त्यर्थः।[19]

अस्य प्रथमः पादः वैश्वानरः जागरितस्थानो सप्ताङ्गः (द्युलोकः, सूर्यः, वायुः, आकाशः, अन्नम्, जलम् अग्निश्च) एकोनविंशतिमुखः (पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि, पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, प्राणादयः पञ्च वायवः, मनो बुद्धिरहङ्कारः चित्तमिति स्थूलविषयाणां भोक्ता वर्तते।[२०] एष जागरितस्थानो वैश्वानरः अकारसंज्ञितः वर्तते। यदा साधकः प्रथममात्रम् अकारं जानाति तदा अकारस्य आदिमत्वात् आप्तेर्वा सर्वान् कामान् प्राप्नोति सर्वेषु च आदिर्भवति।[२१]

ओंकारस्य द्वितीयः पादः स्वप्नस्थानीयः अन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्गः एकोनविंशतिमुखः सूक्ष्मविषयाणां भोक्ता तैजसो भवति।[२२] यश्च उत्कर्षाधायकं

---

[१८] माण्डूक्योप. १-२

[१९] तदेव शा.भा.

[२०] माण्डूक्योप. ý

[२१] तदेव µ

[२२] तदेव þ

उकारमात्रं तैजसं ध्यायति जानाति वा तस्य ज्ञानस्य सन्तानं विस्तारो भवति। अपि च अस्य कुले न कश्चन ब्रह्मज्ञानहीनः भवति।[२३]

तृतीयः पादः सुषुप्तस्थानीयः वर्तते। यत्र सुप्तः न कामपि कामनां कामयते न च कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत् सुषुप्तं भवति। एतस्मिन् स्थाने जीवस्य पूर्ववर्तिन्ये जाग्रत् स्वप्नश्चावस्थे एकीभवतः। अतः यथा घनान्धकारे रात्रौ सर्वं घनीभूतमनुभूयते न किञ्चित् पृथक् दृश्यते तथैव एषः सुषुप्तस्थानः जीवः प्रज्ञानघन एवोच्यते। विषय-विषय्योः अभावात् दुःखस्यापि अभावः अतः आनन्दमयः उच्यते। स्वप्नादिज्ञानरूपचेतनां प्रति द्वारीभूतत्त्वात् चेतोमुखोऽप्युच्यते। भूत-भविष्यसर्वविषयाणां ज्ञातृत्वात् प्राज्ञः उच्यते।[२४] य उपासकः तृतीयमात्रं मकारसंज्ञितं सुषुप्तस्थानं प्राज्ञं जानाति सर्वं मिनोति।[२५] आचार्यः शङ्करः सोदाहरणं मकारस्य मापकत्वं ज्ञापयति यत् यथा प्रस्थेन (परिमाणविशेषेण) यवाः मीयन्ते तथैव प्रलयोत्पत्तिसमये क्रमशः प्रवेशनिर्गमाभ्यां मकारेण प्राज्ञेन विश्वतैजसौ मीयेते।[२६]

ब्रह्मणः चतुर्थः पादः अमात्रः वर्तते। तुरीयं न तु अन्तःप्रज्ञं भवति न तु बहिष्प्रज्ञं भवति न च उभयतः प्रज्ञं भवति। अपि च न सः प्रज्ञानघनं वर्तते। स च

---

[२३] माण्डूक्योप. ûú

[२४] तदेव ÿ शा.भा.

[२५] माण्डूक्योप. ûû

[२६] माण्डूक्योप. ûû शा.भा.

आत्मा अदृष्टम्, अव्यवहार्यम्, अग्राह्यम्, अलक्षणम्, अचिन्त्यं, शान्तं शिवम् अद्वैतं वर्तते। यश्चात्मनः ईदृशं स्वरूपं जानाति सः स्वत एव आत्मना आत्मनि प्रविशति।[२७]

एवं वयम् पश्यामः यदुभयोरपि उपनिषदोः प्रकारान्तरेण ओंकारस्य अभेदसम्बन्धः परापरब्रह्मणा कृतोऽस्ति। परमेकत्र तु अकारोकारमकारेण अपरब्रह्मणः स्वरूपं विज्ञापितं अपरत्र परब्रह्म अपि त्रिभिः मात्राभिरेव ज्ञापितं वर्तते। अत्रैका विप्रतिपत्तिरुत्पद्यते यत् परब्रह्म सर्वधर्मवर्जितत्त्वात् शब्दप्रवृत्तिनिमित्ताभावाच्च कथमोंकारेण ज्ञास्यते। विप्रतिपत्तिमेतां निराकुर्वन् कथयति यत् ओंकार-परापरब्रह्मणोर्मध्ये श्रुत्या प्रतिपादित अभेदसम्बन्धः ओंकारस्य आलम्बनं ज्ञापयति न तु तस्य साधनम् अतः मात्रोपासनाप्रसंगे यत्रापि तृतीयाप्रयोगः स्यात् स च द्वितीयैव परिणेयः।[२८] एवमेव माण्डूक्योपनिषदि आत्मनः चतुर्षु पादेषु विभज्य मीमांसा कृता। आत्मनः चतुष्पादत्त्वं विवेचयन् शंकराचार्यः कथयति यत् आत्मनः चतुष्पात्त्वं चतुष्पाद् गौरिव नास्ति अपितु कार्षापणे स्थितानां चतुर्णां पादानामिव वर्तते। अस्यारेखचित्रमधोलिखितमस्ति-

---

[२७] माण्डूक्योप. ÷, ûü

[२८] प्रश्नksi- ÿ-ÿ 'kk-Hkk-

अमात्रः
तुरीयः
मकार
प्राज्ञः
उकार
तैजसः
अकारः
वैश्वानरः
जाग्रतः
स्थूलभुक्
स्वप्नः
सूक्ष्मभुक्
सुषुप्त
आनन्दभुक्
शान्तः
शिवम्

उपनिषत्सु प्राणतत्त्वम्

प्रवीणशर्मा[१५०]

उपनिषच्छब्दस्य निष्पत्तिः उप+नि उपसर्गद्वयेन युक्तेन सद् धातोः 'क्विप् प्रत्यये सति भवति। उपनिषद्यते प्राप्यते ब्रह्मभावोऽनया इति उपनिषद्,[१५१] अर्थात् यया ब्रह्मणः साक्षात्कारः भवितुं शक्यते तन्नामोपनिषद्। अमरकोशानुसारेण उपनिषत् शब्दस्य प्रयोगः धर्मे रहसि च भवति- **धर्मे रहस्युपनिषत् स्यात्**।[१५२]

मुक्तिकोपनिषदनुसारम् उपलब्धानाम् उपनिषदां संख्या शतं वर्तते। आचार्यशंकरेण दशोपनिषदां व्याख्या कृता। ता एव दश मुख्या उपनिषदः स्वीकृताः। तत्रापि सामवेदेन सह सम्बद्धायाः छान्दोग्योपनिषदः महत्त्वं विशिष्टमेव। छान्दोग्योपनिषदि प्राणतत्त्वस्य महद्विवेचनं कृतम्। छान्दोग्योपनिषदनुसारं प्राणः एव ज्येष्ठः श्रेष्ठश्च।[१५३] ते एवोपासकेन उपासितव्याः। गर्भस्थस्य पुरुषस्य इन्द्रियेभ्यः पूर्वं प्राणे एव वृत्तिः भवति, यया तस्य वृद्धिः भवति। अतः वयःक्रमेण प्राणः एव श्रेष्ठः। तत्रोपनिषदि प्राणस्य इन्द्रियाणाञ्च श्रेष्ठतायै विवादो वर्णितोऽस्ति। ते विवादस्य निराकरणाय प्रजापतिं जग्मुः। तत्र प्रजापतिः निर्णीतवान् यत् यस्याभावे शरीरः पापिष्ठः भवति स एव श्रेष्ठः। तदा वाचा प्रथमतयोत्क्रमणं कृतम्। तस्याभावेऽपि जीवनस्य निर्वाहः सम्यक् रूपेणाभवत्। तदा सा सम्वत्सरपर्यन्तं प्रवासं कृत्वा पुनराजगाम।[१५४] तदा चक्षुषो गमनमभवत्। चक्षुषि गतेऽपि जीवनस्य निर्वाहः सम्यक् रूपेण प्राचलत्।[१५५] तदा तदपि स्वाश्रेष्ठत्वं विज्ञाय

---

[१५०] **संस्कृत-पाली-प्राकृतविभागः, महर्षिदयानन्दविश्वविद्यालयः, रोहतकम्**

[१५१] मुक्तिकोपनिषद् २/५/७

[१५२] अमरकोषः १/५

[१५३] छान्दोग्योपनिषद् ५/१/७

[१५४] छान्दोग्योपनिषद् ५/१/८

[१५५] छान्दोग्योपनिषद् ५/१/९

पुनराजगाम।[१५६] तदनन्तरं श्रोत्रस्य गमनं वर्णितम्। श्रोत्रमपि संवत्सरपर्यन्तं प्रवासं कृत्वा स्वाश्रेष्ठत्वं विज्ञाय च पुन: शरीरे प्रतिष्ठां लेभे।[१५७] तदनन्तरं मनस: उत्क्रमणं वर्णितम्। मनोऽपि स्वाश्रेष्ठत्वं विज्ञाय स्वस्थानं लेभे।[१५८] तदनन्तरं प्राणा उच्चक्राम। तस्याभावे शरीर: पापिष्ठ: जात: तदैव प्राणस्य श्रेष्ठत्वं स्वीकृतम्।[१५९]

प्रश्नोपनिषद्यपि भार्गव: पैप्पलादं पृच्छति कति देवा: पुनश्च कतम: एतेषां वरिष्ठ:। तदनन्तरं पैप्पलाद उत्तरयति यत् आकाश:, वायु:, अग्नि:, जलं, पृथिवी, वाक्, मन:, चक्षु:, श्रोत्रञ्चैते सर्वे मिलित्वा शरीरं धारयन्ति। तत्रापि प्राणस्य एव श्रेष्ठता प्रतिपादिता।[१६०] तत्र भ्रमरस्यापि उदाहरणं दत्तम्। वाचाऽपि प्राणस्यैव वरिष्ठत्वं स्वीकृतम्। श्रोत्रेण तस्यैव ज्येष्ठत्वं स्वीकृतम्। मनसा तस्यायातनं स्वीकृतम्। मनसोऽपि आयतनं प्राणा एव। उपनिषत्सु सर्वेन्द्रियाणां प्राणत्वं स्वीकृतम्।[१६१] प्राण एव ब्रह्मत्वेन स्वीकृत उपनिषत्सु।[१६२] प्राण एव सर्वं निहितम्। अग्रे गत्वा वेदान्ते प्राणा एव ब्रह्मत्वेन व्यवह्रियन्ते। अत: प्राणशब्द: बह्वर्थेषु प्रयुज्यते।

उपनिषत्सु प्राणस्य संख्याया विषये वैविध्यं प्राप्यते। कुत्रचित् प्राण: पञ्चधा उपदिष्ट:।[१६३] कुत्रचित् प्राणस्य संख्या सप्त अपि प्राप्यते।[१६४] तस्य प्राणस्य सप्तत्वात् समिध: अपि सप्तत्त्वं वर्णितम्। उपनिषत्सु प्राणस्य संख्या दश

---

[१५६] छान्दोग्योपनिषद् ५/१/१०

[१५७] छान्दोग्योपनिषद् ५/१/१०

[१५८] छान्दोग्योपनिषद् ५/१/११

[१५९] छान्दोग्योपनिषद् ५/१/२

[१६०] प्रश्नोपनिषद् २/३

[१६१] छान्दोग्योपनिषद् ५/१/१५

[१६२] कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद् अध्याय ३

[१६३] तैत्तिरीयोपनिषद् १/७/१

[१६४] मुण्डकोपनिषद् २/१/४

अपि प्राप्यते।[१६५] तत्र पञ्चप्राणाः पञ्चब्रह्मपुरुषरूपेण वर्णिताः। उपनिषत्सु प्राणस्योत्पत्तिः प्रजापतेः वर्णिताः।[१६६] तत्र प्राण एवाऽऽदित्यत्वेन स्वीकृतः। तत्र सर्वे पदार्थाः प्राणस्य भोजनं स्वीकृताः। साररूपेणोक्तम् यत् प्राणविदे सर्वमेव भोज्यं वर्तते न किञ्चित् अभक्ष्यम्। तत्र प्रश्न उद्भवति यद्येवं स्यात् तर्हि तु भक्ष्याभक्ष्यस्य मर्यादा एव न भविष्यति। अस्याः शंकाया निवारणाय उपनिषत्कारः वदति यत् सत्यपि समभावे प्राणवित् पुरुषः शरीरस्य कल्यणाय भक्ष्याभक्ष्यस्य विचारङ्कृत्वैव व्यवहरति। अत्र अभिप्रायमात्रेण प्राणविदः प्रशंसा कृता न तु अभक्ष्यस्य भक्ष्यत्वं प्रतिपादितम्। उपनिषत्सु प्राणस्य वस्त्राणि जलानि वर्णितानि।[१६७] अनेन दृष्टान्तेन प्राणानां सत्सु जलस्य महत्वं प्रतिपादितम्। ऋते जलात् प्राणस्य स्थितिः एव न संभविष्यति। जलमेव प्राणस्य रक्षकः आवरणञ्च। भारतीयपरम्परायाम् अस्मादेव कारणात् आचमनस्य विधानमस्ति। अन्यत्रोक्तं यत् प्राणस्य आवरणं जलमेव। ऋते जलात् ग्रीष्मर्तुः कष्टदः भवति वर्षणमानन्ददायकञ्च भवति जलेन युक्तम्। मरुभूम्यां जलस्याभावे प्राणाः प्राय नश्यन्ति। प्राणस्योपदेशेन शुष्कस्थाणौ अपि शाखोत्पादनस्य वर्णनमस्ति उपनिषत्सु।[१६८] उपनिषदि प्राणस्याचेतनत्वं वर्णितम्। तत्र प्राणस्य तापसत्वमपि स्वीकृतम्। पाञ्चभौतिकप्राणस्य ज्येष्ठत्वं श्रेष्ठत्वं च स्वीकृतम्। सम्पूर्णस्य ब्रह्माण्डस्य विधाता प्राणा एव स्वीकृताः। उपनिषत्सु प्राणस्य पिता ब्रह्मैव स्वीकृतः। तदनन्तरं प्राणस्य प्राप्त्युपायो वर्णितः। प्राणसाधनाय केचन कर्मकाण्डा वर्णिताः। यथा अमावस्यातिथौ दीक्षित्वा अद्यारभ्य व्रतञ्चरिष्यामि इति संकल्प कुर्यात्। सत्यवदनस्यापि विधानमस्ति। ब्रह्मणि मनसः समाधानस्य निधानमपि

---

[१६५] बृहदारण्यकोपनिषद् ३/९/४

[१६६] प्रश्नोपनिषत् १/४

[१६७] छान्दोग्योपनिषद् ५/२/२

[१६८] बृहदारण्यकोपनिषद् ४/१/६

अस्ति। तत्र अनृतवदनस्य निषेधः अस्ति। तदनन्तरं व्रतमारभ्य चतुर्दशसु दिवसेषु व्रतस्योद्यापनं वर्णितम्। व्रतसम्पत्तौ ओषधीनां समिधः विधानमस्ति। अस्मिन् प्रसंगे व्रीहियवादयः दश ओषधयः सन्ति। तेषां पिष्टानां ध्वनिं कुर्यात् प्राणकामः। उपनिषत्सु कुत्रचित् प्राणस्य ब्रह्मणः च पृथक्त्वं स्वीकृतम्।[१६९] तत्र अन्नस्य प्राणेन सह मिलित्वा एव ब्रह्मभाव वर्णितः न तु केवलस्य प्राणस्य। तत्रोपनिषदि वीरशब्दस्य व्याख्यायां वर्णितमस्ति यत् वी शब्दस्यार्थोऽस्ति अन्नम् एवं इ शब्दस्यार्थोऽस्ति प्राणः। यतो हि प्राणाः एव सर्वेषु प्राणिषु रमन्ते। आचार्या वदन्ति यत् प्राणोऽपि ब्रह्मवदुपास्यः। प्राणं विना नश्यन्ति अन्नानि। तदेव प्राणस्य प्राणत्वमिति उक्तमुपनिषदि। प्राणाः एव उक्थः उक्त उपनिषदि। यतोहि प्राण एव उत्थापयति सर्वान्। अस्मात् उपासकात् दश उक्थविदुत्तिष्ठति। यदेवं जानाति। सह उक्थेन सह सायुज्यं प्राप्नोति। प्राणा एव यजुर्वेदरूपेण वर्णितः यतोहि प्राणे एव सर्वे प्राणिनः युज्यन्ते। प्राण एव सामरूपेण वर्णितोऽस्ति यतो हि सर्वे प्राणिनः प्राण एव समागमनं कुर्वन्ति। सर्वे प्राणिनोऽनेन सह मिलन्ति। प्राण क्षत्ररूपेण वर्णितोऽस्ति उपनिषत्सु। यतो हि प्राण एव शरीरं हिंसया क्षिणोति। यः पुरुष एवं जानाति स निश्चयेन प्राणेन सह सायुज्यमाप्नोति। यतोहि प्राण एव सर्वं स्थावरं जगमञ्च उत्थापयति। अतः स उक्थो भवति। उत्थापयति यत् तदुक्थम्। एतस्मात्पुरुषात्यो प्राणविदस्ति तस्मात् पुत्रोऽपि उक्थविद् भवति। इमानि सर्वाणि भूतानि प्राण एव युज्यन्ते। एतानि तानि प्राणस्येव सत्तायां लीयन्ते। प्राणविदः कृते सर्वाणि भूतानि श्रेष्ठानि भवन्ति। गायत्र्या सहापि प्राणस्य सायुज्यं वर्णितमुपनिषत्सु। प्राणापानव्यानेषु अष्टौ अक्षराणि सन्ति। गायत्र्यामपि अष्टौ अक्षराणि सन्ति एकस्मिन् पादे। अतः प्राणस्य गायत्र्या सह सायुज्यं वर्णितं तत्र। साररूपेण कथितुं शक्यते यत् प्राणशब्दः उपनिषत्सु अनेकार्थवाचकोऽस्ति।

---

[१६९] बृहदारण्यकोपनिषद् १९/१/५

कुत्रचित् अस्य ब्रह्मणा सह समानार्थत्वमस्ति कुत्रचिन्न। विविधासु अवस्थासु प्राणस्यार्थः भिन्नः भवति।

बृहदारण्यकोपनिषद्यव्यक्तकारणात् ब्रह्मणः जगतः उत्पत्त्याः प्रसङ्गे प्राणशब्दस्य निरुक्तिः निम्नप्रकारेण दत्ता- **अकृत्स्नो हि स प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति।**[१७०] तत्र प्रोपसर्गयुक्तेन 'अन्' धातुना प्राणस्य निष्पत्तिः सिद्धाः। प्राणनात् एव स आत्मा प्राण इति उच्यते। वायुरत्र प्राणरूपेण ग्रहीतः। अयम् आत्मा वायुमन्तरं नयति बहिर्निष्कासयति च। तस्मादस्य नाम प्राणो भवति। छान्दोग्योपनिषदि ओङ्कारोपसाना प्रसङ्गे प्राणमुद्गीथं मत्वा प्राणस्य निरुक्तिः निम्नतया क्रियते यत्- **यद्वै प्राणिति स प्राणः।**[२१] तदनुसारमपि सः प्राणनात् प्राणो भवति। अत्रापि प्राणशब्देन प्राणवायोः ग्रहणमस्ति। पुरुषः प्राणनं करोति अर्थात् मुखनासिकाभ्यां वायुं बहिर्निष्कासयति अतः वायोः बहिष्करणात् स प्राण इति सज्ञां लभते। प्रश्नोपनिषदि देहस्थानां पञ्चाग्नीनां प्राणेन सह साम्यम् उक्त्वा प्राणस्य निरुक्तिरियं दत्ता यत्- **यत् गार्हपत्यात्प्रणीयते प्रणयनादाहवनीयः प्राणः।**[१७१] तदनुसारेण प्राणशब्दस्य निरुक्तिः प्रोपसर्गपूर्वकेन नी धातोः सिद्धाः प्रणयनाद् सः आहवनीयाग्निः प्राण इति सज्ञां लभते। प्रणयनादर्थात् नीयमानत्वाद् वा प्रदीप्तत्त्वाद्वा सः आहवनीयाग्निः प्राण इति नाम्ना ज्ञायते।

केनोपनिषदि ब्रह्मणः महत्तायाः प्रसङ्गे प्राणशब्दस्य निरुक्तिः अनेन प्रकारेण दत्ता यत्- **यत् प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते।**[१७२] यत् ब्रह्म प्राणेन प्रेरितः न भवति येन प्राणः प्रेरितः भवतीति भावः। अत्र स्पष्टरूपेण तु प्राणशब्दस्य निरुक्तिः नैव दत्ता अपितु वाक्य-विन्यासेन प्राणस्य निरुक्तिः अनुमीयते।

---

[१७०] छा.उ. १/३/३

[१७१] प्र.उ. ४/३

[१७२] के.उ. २/८

कौषीतकिब्राह्मणोपनिषदि प्राणमहिम्नः प्रसङ्गे प्राणस्य निरुक्तिः क्रियते यत्- **प्राणं प्राणन्तं सर्वे प्राणा अनु-प्राणन्तीति।**[१७३] प्राणं प्राण इति तदथर्मुच्यते यत् अनेनैव वयं प्राणनं कुर्वन्ति। जैमिनीयोपनिषदि देवानां षडासनानि सन्ति येषु प्राणोऽपि एकत्वेन विद्यते। अस्मिन्नेव प्रसङ्गे प्राणस्य निरुक्तिः निम्नतया दत्ता यत् प्राणेन प्राणिति। अत्र दत्ता सर्वाः निरुक्तयः अंशतः प्राणस्य पर्यायाः अपि अनेकाः सन्ति उपनिषत्सु। तत्र प्रथमोऽस्ति आभूतिः। जैमिनीयोपनिषदि आभूतिवर्णन- प्रंसग एव भूतिशब्दस्य निरुक्तिः दत्ता यत् **आभूतिरिति कारीरादयः प्राणं वा अनुप्रजाः पशव आभवन्ति।**[१७४] तदनुसारं अत्राभूतिशब्दस्य निरुक्तिः आङ्+भू धातोः कृता। आभूतिः शब्दोऽत्रप्राणस्य पर्यायत्वेनागतः। कारीरादयः ऋषयः प्राणम् आभूतिरिति वदन्ति। यतो हि प्राणाधार एव जायमानाः सर्वे प्राणिनः भवन्ति। तत्रैव आरुष्याः दशपुत्रत्वेन प्राणादिकं स्वीकरणे एव वीरशब्दस्य निरुक्तिः अनेन प्रकारेण क्रियते यत्- **एको ह्येवैष वीरो यत् प्राणः। आ हाऽस्यैको वीरो वीर्यं वा जायते य एवं वेद।**[175] तदनुसारमत्रैकवीरशब्दस्य निरुक्तिः '**एकश्चासौ वीरश्च**' इति रूपेण दत्ता। एवञ्च वीरशब्दः वीर्यशब्दातुत्पन्नः स्वीकृतः। एकवीरशब्दः प्राणस्य पर्यायरूपेणागतः अत्र। प्राणस्य एकवीरत्वं ततो हि स्वीक्रियते यतो हि अयमेव सर्वातिशायिना वीर्येण युक्तोऽस्ति। प्राणानां वीर्यात् राहित्ये सति कोऽपि जीवः स्वकार्यं कर्तुं न शक्नोति अतः एव प्राणः एकवीरः इति उच्यते। क्षत्रशब्दोऽपि

---

[१७३] कौ.ब्रा.उप. ३/२

[१७४] जै.उ. २/४/४

[१७५] जै.उ. २/५/१

प्राणस्य पर्यायत्वेनोक्तः उपनिषत्सु। बृहदारण्यकोपनिषदि क्षत्रशब्दः प्राणोपासना प्रसङ्गे प्रयुक्तः। अस्मिन्नेव प्रसङ्गे अस्य शब्दस्य निरुक्तिः निम्नप्रकारणे दत्ता यथा- **क्षत्रं प्राणो वै क्षत्रं प्राणो हि वै क्षत्रं त्रायते है नं प्राणः क्षणितोः प्रक्षत्रमत्रमाप्नोति।**[१७६] तदनुसारमत्र क्षत्रशब्दस्य निरुक्तिः हिंसार्थकात् क्षणुधातोः पालनार्थकात् त्रैङ् धातोः कृता। क्षत्रशब्दोऽत्र प्राणशब्दस्य विशेषणम् पर्यायश्चास्ति। प्राणस्य क्षत्रसंज्ञा तस्माद् क्रियते यत् स एव अस्य देहस्य शस्त्रादिजनितेभ्यः क्षतेभ्यः रक्षां करोति। अतः प्राणः क्षत्रमित्युच्यते। जैमिनीयोपनिषदि वर्णित एतत् यत् पतंगः वाणीं मनश्च धारयति। प्राणः एव पतङ्गोऽस्ति। अत्रैव प्राणं गन्धर्वरूपं मत्वा गन्धर्वशब्दस्य निरुक्तिः अनेन प्रकारेण कृता यत्- **प्राणो व गन्धर्वः पुरुषगर्भः। स इमाम्पुरुषेऽन्तर्वाचं वदति।**[१७७] तदनुसारमत्र गन्धर्वशब्दस्य निरुक्तिः गर्भ+अन्तशब्देन कृता। गन्धर्वशब्दोऽत्र प्राणार्थे प्रयुक्तः। प्राणः गन्धर्वोऽस्ति। पुरुषः गर्भोऽस्ति। प्राणस्य पुरुषरूपगर्भे निवासत्वात् पुरुषस्य गर्भत्वमुक्तम्। गर्भस्यान्तरे निवासत्वात् प्राणस्य गन्धर्वत्वम्। जैमिनीयोपनिषदि प्राणस्य गोपत्वम् स्वीकृत्य गोपशब्दस्य निरुक्तिः निम्नप्रकारेण कृता यत् **प्राणो वै गोपः। स हीदं सर्वमनिपद्भ्रमानो गोपायति।**[१७८] तदनुसारमत्र गोपाशब्दस्य निरुक्तिः रक्षणार्थकात् गुप्धातोः स्वीकृता। गोपाशब्दः अत्र प्राणस्य पर्यायत्वेन पठितः। सः सर्वतः अस्मान् रक्षति। वस्तुतः प्राण एव अस्माकं रक्षकः। बृहदारण्यकोपनिषदि प्राणस्य शुद्धताप्रतिपादनप्रसङ्गे

---

[१७६] बृहदारकोपनिषत् ३/१३/४

[१७७] जैमिनीयोपनिषत् ३/३६/३

[१७८] वही, ३/३७/२

दूर्शब्दोऽपि आगतः। तस्य निरुक्तिः निम्नप्रकारेण कृता यत्- **सा वा एषा देवता दूर्नाम दूरं हास्या मृत्युः।**[179] अत्र दूः शब्दः प्राणस्य पर्यायत्वेनागतः। सा प्राणो नाम देवता दूरिति संज्ञावान् यतो हि मृत्युः अस्मात् दूरमस्ति, जैमिनीयोपनिषदि रक्षसां मायावर्णनप्रसङ्गे पतङ्गशब्दस्य निरुक्तिः निम्नप्रकारेण दत्ता- **प्राणो वै पतङ्गः।**[१८०] तदनुसारमत्र पतङ्शब्दस्य निरुक्तिः 'पतन्' उपपदपूर्वकेन अङ्गशब्देन कृता। अत्र पतङ्गशब्दः प्राणस्य पर्यायरूपेण आगतः। अङ्गेषु चलन् एष रथात् अपि तीव्रगतिवान् भवति। अतः एव प्राणस्य पतङ्गत्वमुक्तम्। जैमिनीयोपनिषदि प्रभूतिशब्दस्यापि प्राणत्वम् स्वीकृतम्।[१८१] प्रभूतिशब्दः तत्र प्राणार्थकोऽस्ति। शेलजादयः ऋषयः प्राणं प्रभूतिं वदन्ति यतो हि सर्वे प्राणिनः प्राणधारिणः भवन्ति। जैमिनीयोपनिषदि भूतिवर्णनप्रसङ्गे भूत्याः प्राणत्वं स्वीकृतम्।[१८२] भाल्लविनादयः ऋषयः प्राणं भूतिरिति वदन्ति यतो हि सर्वे प्राणिनः प्राणेन एव जीवन्ति।

बृहदारण्यकोपनिषदि अन्नप्राणब्रह्मणः वर्णने रम शब्दस्यपि प्राणत्वं स्वीकृतम्।[१८३] प्राणे एव सर्वेषां रमणत्वात् प्राणानां रम संज्ञा विहिता। अर्थात् प्राणानां सत्सु एव सर्वे प्राणिनः रमणे समर्थाः भवन्ति। रमणत्वात् एव प्राणानां रमणत्वं स्वीकृतम्। उपनिषत्सु यजुषोऽपि प्राणत्वं स्वीकृतम्।[१८४] प्राणेषु एव सर्वेषां

---

[१७९] बृ.उ. ३/६/८, ९

[१८०] जै.उ. ३/३५/२

[१८१] जै.उ. २/४/६

[१८२] जै.उ. २/४/७

[१८३] कृ.उ. ५/१२/१

[१८४] वही, ५/१३/२

भूतानां योगत्वात् प्राणस्य यजुः संज्ञा विहिता। यजुः शब्दः योगवाचकः। एवञ्च सर्वे आकाशाः यजुषि समहिताः भवन्ति। प्राणेऽपि सर्वे प्राणिनः समाहिताः भवन्ति। अत्र युज् धातोः वर्णविपर्ययाद् यजुः शब्दः सिद्ध्यति।[१८५] जैमिनीयोपनिषदि वशीशब्दस्यापि प्राणस्य पर्यायत्वं स्वीकृतम्।[१८६] सर्वान् स्ववशे करणात् प्राणस्य वशीत्वं स्वीकृतम्। मैत्रायण्योपनिषदि व्याख्यातमेतत् यत् ब्रह्म प्राणिनां चैतन्यार्थं स्वयमेव वायुरूपे तेषां शरीरे प्राविशत्।[१८७] अस्मिन्नेव प्रसङ्गे व्यानस्य प्राणत्वं स्वीकृतम्। प्रश्नोपनिषदि समानस्यापि प्राणत्वं स्वीकृतम्।[१८८]

❑

---

[१८५] उपनिषदों में निर्वचन (डा. वीणा मल्होत्रा) पृ.सं. १६८

[१८६] जै.उ. २/४/१

[१८७] मै.उप. २/७

[१८८] प्र.उ. ४/४ समं नयतीति समानः। स एनं यजमानमहरहर्ब्रह्म गमयति

पावमानी मार्च २०१७ अंक ३२/२-३ ISSN २२२९-६३२८ UGC पत्रिका सं. ४०९५२

उपनिषदों में वर्णित योगविद्या

हेमन्त शर्मा[१८९]

विश्व वाङ्मय में वैदिक साहित्य प्राचीन एवं सर्वोपरि माना जाता है। उस वैदिक साहित्य में भी उपनिषदों का स्थान महत्वपूर्ण एवं अद्वितीय है। इन उपनिषदों के बल पर प्रतिष्ठित हुआ भारतीय दर्शन का मूल स्रोत उपनिषद् ही है, जो मानवमात्र के पाप का शमन कर जीवन के परम पुरुषार्थ मोक्ष का सम्पादन कराता है। भारतीय विचार-परम्परा के इतिहास में उपनिषद् ग्रन्थों के आविर्भाव से वैदिक साहित्य में सर्वथा एक नए युग का सूत्रपात होता है। उपनिषद् ज्ञान के आविर्भाव से भारतीय साहित्य में इतना महान् परिवर्तन हुआ कि उसकी कायापलट हो गई। यह उपनिषद् युग भारतीय विचारधारा की पराकाष्ठा का युग रहा है।

उपनिषद् शब्द की व्युत्पत्ति एवं अर्थः- उपनिषद् वैदिक साहित्य की अन्तिम रचनाएँ मानी जाती हैं, इसलिए उपनिषद् को वेदान्त भी कहा गया है। उपनिषद् शब्द उप एवं नि उपसर्ग पूर्वक सद् धातु से क्विप् प्रत्यय के योग से बना है।[१९०] उप का अर्थ है- समीप अथवा सामीप्य, नि का अर्थ है- निःशेषेण अर्थात् सम्पूर्ण भाव से तथा सद् धातु का अर्थ है ज्ञान प्राप्ति।[१९१] इस प्रकार **उपनिषद्** पद का अर्थ हुआ- गुरु के सानिध्य में एकाग्रता अथवा संयमपूर्वक रहकर ज्ञान प्राप्त करना। उपनिषद् ज्ञान का भण्डार है। एक प्रकाशमय ज्योति है, जो अज्ञानरूपी अन्धकार को दूर कर एक प्रकाशवान्

[१८९] **संस्कृत विभाग, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक**

[१९०] अष्टाध्यायी ३.२.६१

[१९१] शब्दकल्पद्रुम ख. १

ज्योति प्रज्ज्वलित करती है, अन्धकार से प्रकाश, अज्ञान से ज्ञान की ओर ले जाती है।

उपनिषद् वस्तुतः किसी ग्रन्थ का नाम न होकर रहस्यमय विद्या अथवा ब्रह्मविद्या का ही नाम हो सकता है। इस ब्रह्मविद्या को ही केनोपनिषद् में रहस्य विद्या[११२], मुण्डकोपनिषद् में पराविद्या[११३], मनुस्मृति में आत्म-विद्या, महाभारत में मोक्ष विद्या[११४] तथा भगवद्गीता में अध्यात्मविद्या[११५] की संज्ञा दी गई है।

योग शब्द की व्युत्पत्ति, अर्थ एवं परिभाषा-

पाणिनीय व्याकरण के अनुसार युज् धातु में भावार्थक घञ् प्रत्यय जुड़ने से योग शब्द बना है और इसके अनेक अर्थ है जैसे- संयोजन, संयमन, मेल, कार्य-प्रवीणता, संयोग तथा समाधि। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार दिवादिगण की युज् धातु[११६] में घञ् प्रत्यय लगने पर उत्पन्न योग शब्द का अर्थ समाधि होता है। रुधादिगणीय युज् धातु में घञ् प्रत्यय लगने पर युज् धातु का अर्थ योग बनता है।

चुरादिगण की युज् धातु में घञ् प्रत्यय लगने पर युज् धातु का अर्थ संयमन बनता है।[११७] इस प्रकार पाणिनीय व्युत्पत्ति के अनुसार योग शब्द का अर्थ प्रत्येक गण की धातु के अनुसार भिन्न-भिन्न है।

---

[११२] केनोपनिषद् ४.७

[११३] मुण्डकोपनिषद् १.१५

[११४] शान्तिपर्व ३४०.७३.७४

[११५] गीता १०.३२

[११६] दिवादिगण, युज समाधौ, धातुपाठ, पृष्ठ-३२

[११७] चुरादिगण, युज् दृच् संयमने, धातुपाठ, पृष्ठ ४१

उपनिषदों में योग

उपनिषदों में योग की चर्चा अनेक स्थानों पर हुई है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में योगी के लिए अभ्यास हेतु समतल, शुद्ध, कंकण, अग्नि, बालू से रहित स्थान उत्तम माना जाता है। जल और आश्रय की दृष्टि से सर्वथा अनुकूल, नेत्रों को पीडा न देने वाला, गुहा आदि वायु शून्य स्थान में मन को ध्यान में लगाने का अभ्यास करना चाहिए।[१९८] इसके अतिरिक्त इस उपनिषद् में क्रियात्मक योग की चर्चा करते हुए एक जगह पर योग की परिकल्पना की गई है। सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो हठयोग सम्बन्धी (आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) अंगों का वर्णन दर्शाया गया है।[१९९] हठयोग का स्पष्ट संकेत करते हुए एक अन्य स्थान पर हल्का शरीर, आरोग्य, अलोलुपता, नेत्रों की प्रसन्नतावर्धक, शरीरकान्ति, मधुरस्वर, शुभ गन्ध इत्यादि योग प्रवृत्ति के लक्षणों का वर्णन किया गया है।

कठोपनिषद् में योग का लक्षण करते हुए कहा गया है कि जब मन सहित पांचों ज्ञानेन्द्रियाँ स्थिर हो जाती हैं तो वह योग की अवस्था हो जाती है।[२००] कठोपनिषद् में नाड़ियों के ज्ञान का अपना एक अलग विशिष्ट स्थान है। हृदय में एक सौ से अधिक नाड़ियाँ हैं, जो वहाँ से सब ओर फैली हुई हैं। उनमें से एक नाड़ी जिसे सुषुम्ना कहते हैं, हृदय से मस्तिक की ओर गई हुई है। परम-धाम में जाने का अधिकारी उस नाड़ी के द्वारा शरीर से बाहर निकलकर परमधाम में अमृतस्वरूप परमानन्द परमेश्वर को प्राप्त हो जाता है।

---

[१९८] समे शुचौ शर्करा वहि बालुका विवर्जिते शब्दजलश्रयादिभिः।
मनोऽनुकूले न तु चक्षुःपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयते। श्वेताश्वतरोपनिषद्- २.१०

[१९९] श्वेताश्वतरोपनिषद् २/८-९

[२००] यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह। बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्। तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरमिन्द्रयधारणाम् अप्रमतस्तदा भवति योगो हि प्रभावाप्ययौ। कठोपनिषद्- ४.१०/११

दूसरे जीव मृत्युकाल में दूसरी नाड़ियों के द्वारा शरीर से बाहर निकलकर अपने-अपने कर्म और वासना के अनुसार नाना योनियों को प्राप्त होते हैं।[२०१]

योग के अङ्ग

पतञ्जलि ने अपने ग्रन्थ में योग के आठ अङ्ग माने हैं। कुछ उपनिषदों में भी पतञ्जलि के समान योग के आठ अङ्ग माने गये हैं किन्तु कुछ में केवल छः अङ्ग ही माने गए हैं।[२०२] शाण्डिल्योपनिषद् में यम-नियम आदि आठों अङ्ग योगदर्शन के समान स्वीकार किए गए हैं जबकि मैत्रायणी, ध्यानबिन्दु, योग चूड़ामणि तथा अमृतनाद उपनिषदों में योग के केवल छः अङ्ग स्वीकार किए गए हैं। इनमें से योग चूड़ामणि तथा ध्यान बिन्दु उपनिषदों में समान रूप से एक श्लोक प्राप्त होता है, जिसमें यम नियमों को छोड़कर शेष छः अङ्ग पतञ्जलिवत् स्वीकार किए हैं–

आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि भवन्ति षट्॥[२०३]

मैत्रायणी उपनिषद् तथा अमृतनाद उपनिषद् में समान रूप से प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, तर्क तथा समाधि योग के ये छः अङ्ग स्वीकार किए गए हैं। इन दोनों में अन्य उपनिषदों की अपेक्षा आसन के स्थान पर तर्क को रख दिया गया है।

योगराज उपनिषद् में केवल आसन, प्राणायाम, ध्यान तथा समाधि ये चार ही योगाङ्ग माने गए हैं।[२०४]

योग के प्रकार

---

[२०१] हृदयस्य नाड्यः प्राधान्येन शतम् एका च। एकाधिकशतसङ्ख्याकाः प्रधाननाड्य इति यावत्।

[२०२] वराहोपनिषद् ५.११.१२, ब्रह्मपुराण १२.१-२, जाबालदर्शनोपनिषद्१४-५,

[२०३] ध्यानबिन्दु श्लोक-४४ तथा योगचूड़ामणि- श्लोक २

[२०४] आसनं प्राणसंरोधो ध्यानं चैव समाधिकः।
एतच्चतुष्टयं विद्धि सर्वयोगेषु सम्मतम्॥ योगराज उपनिषद्- १-२

दत्तात्रेय योगशास्त्र में योग के चार प्रकार माने गए हैं-

मन्त्रो योगो लयश्चैव हठयोगस्तथैव च।

राजयोगश्चतुर्थः स्याद्योगानामुत्तमस्तु सः।।[२०५]

योगशिखोपनिषद् में उक्त मन्त्र आदि चारों योगों को महायोग कहा जाता है।[२०६] इस उपनिषद् के अनुसार इन चारों योगों में एक क्रम है। पहले योग के साधनों के बाद ही उत्तरोत्तर योग सिद्ध होते हैं।

१. **मन्त्रयोगः**- योगशिखोपनिषद् के अनुसार मन्त्र योग का लक्षण **सोऽहं सोऽहमिति** दिया गया है।

२. **हठयोगः**- योगशिखोपनिषद् में हठ के हकार द्वारा सूर्य का ग्रहण तथा ठकार के द्वारा चन्द्रमा का ग्रहण किया है। सूर्य और चन्द्रमा के ऐक्य को ही यहाँ पर हठयोग माना गया है। योग सम्बन्धी अन्य ग्रन्थों में सूर्य तथा चन्द्रमा के द्वारा इडा तथा पिंगला नाडियों का ग्रहण भी किया जाता है। इस योग का यह लाभ भी है कि इसके द्वारा सभी प्रकार की जड़ता दूर हो जाती है।

३. **लययोगः**- सूर्य और चन्द्रमा के ऐक्य के सिद्ध हो जाने पर साधक का चित्र विलीनता को प्राप्त कर लेता है, यही लययोग कहलाता है।[२०७] इसका लाभ यह बताया गया है कि लययोग से पवन अर्थात् प्राण स्थिर हो जाता है तथा स्वात्मानन्द की प्राप्ति होती है।

४. **राजयोगः**- योगशिखोपनिषद् के अनुसार यम नियम आदि अंगों से मुक्त राजयोग नहीं कहलाता अपितु महाक्षेत्र में जपाकुसुम के समान रजतत्त्व देवीतत्त्व से समावृत्त होकर रह रहा है। रज तथा रेतस् के योग को ही यहाँ पर

---

[२०५] दत्तात्रय योगशास्त्र-१८.१९

[२०६] एकमेव चतुर्धाऽयं महायोगोऽभिधीयते- योगशिखोपनिषद्- १.१

[२०७] योगशिखोपनिषद्-१.१३१-१३४

राजयोग कहा गया है। इस उपनिषद् में राजयोग का लाभ अणिमादि सिद्धियों की प्राप्ति कहा है।[२०८]

उपर्युक्त मन्त्र, लय, हठ तथा राजयोग आदि के अतिरिक्त योग के कुछ अन्य नाम भी उपनिषद् में प्राप्त होते हैं। यथा- अध्यात्मयोग, भक्तियोग, कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग आदि। त्रिशिख ब्राह्मणोपनिषद् में कर्मयोग तथा ज्ञानयोग के रूप में योग के दो भेद किए गए: हैं। सदैव विहित कर्मों में ही अपने मन को लगाने को यहां पर कर्मयोग कहा गया है;[२०९] इसके विपरीत मन को कल्याण के मार्ग में लगाने को ज्ञानयोग कहते हैं।[२१०] कर्मयोग तथा ज्ञानयोग का वर्णन गीता में भी विस्तार से हुआ है। गीता के ही एक श्लोक में कहा गया है कि योगी लोग ध्यानयोग, सांख्ययोग तथा कर्मयोग का साक्षात्कार अपनी आत्मा में करते हैं।[२११] यहाँ पर इन तीनों योगों पर शोध की दृष्टि से विचार किया गया है-

१. **ध्यानयोगः**- श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा गया है कि ब्रह्मपनि लोगों ने ध्यानयोग के द्वारा देवों के भी देव परमात्मा की आत्मशक्ति को देखा।[२१२] ध्यानयोग का अर्थ है- "**ध्यानं प्रधानं यस्मिन्**" अर्थात् जिसमें ध्यान ही प्रमुख है। पातञ्जल योगदर्शन में ध्यान समाधि से कुछ ही पहले की स्थिति है। इसी ध्यान का वर्णन श्वेताश्वतर उपनिषद् में किया गया है। श्वेताश्वतरोपनिषद् के

---

[२०८] रजसो रेतसो योगाद्राजयोग इति स्मृतः। योगशिखोपनिषद्-१.१
अणिमादिपदं प्राप्य राजते राजयोगतः। योगशिखो. १.१३८

[२०९] त्रिशिख ब्राह्मणोपनिषद्- श्लोक-२५-२७

[२१०] वही- श्लोक २५-२७

[२११] ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे।। गीता, १३.२४

[२१२] ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्- श्वेताश्व.- १.३

समान ही गीता[२१३] तथा कैवल्योपनिषद्[२१४] में भी ध्यान की ठीक यही प्रक्रिय बतलायी गई है।

२. **सांख्ययोग**:- सांख्ययोग का ही अपर नाम ज्ञानयोग है। कठोपनिष में इसे ही अध्यात्मयोग कहा गया है।[२१५] **आत्मनि अधि इति अध्यात्मम्** अर्थात आत्मा को लक्ष्य करके जो कुछ कहा जाए वह अध्यात्म कहलाता है। सांख् को ज्ञान का शास्त्र कहा जाता है क्योंकि वहाँ पर भी पुरुष, प्रकृति आदि के बारे में ज्ञान कराया गया है। यह वही सांख्ययोग है, जिसके विषय में गीता मे कहा गया है कि कुछ विद्वान् सांख्ययोग के द्वारा आत्मदर्शन करते हैं।

३. **कर्मयोग**:- कर्मयोग से अभिप्राय निष्काम कर्मयोग से है भगवद्गीता में योग पद के द्वारा प्राय: निष्काम कर्मयोग का ही उपदेश दिय गया है।[२१६] जबकि दूसरे प्रकार के योग का उल्लेख ज्ञानयोग, सांख्ययोग ध्यानयोग आदि पदों द्वारा किया जाता है। गीता में निष्काम योगी को ही योगी कहा गया है। श्री कृष्ण ने अर्जुन को इसी योग में लग जाने की प्रेरणा दी है।[२१७]

---

[२१३] भगवद्गीता ६.११-१३

[२१४] कैवल्योपनिषद् १.५-६

[२१५] अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरोहर्षशोकौ जहाति। कठो.-१.२.१२

[२१६] गीता २.४८, ५-१-२, ५.७, ५.११

[२१७] तस्माद्योगाय युज्यस्व योग: कर्मसु कौशलम्। गीता- २.५०

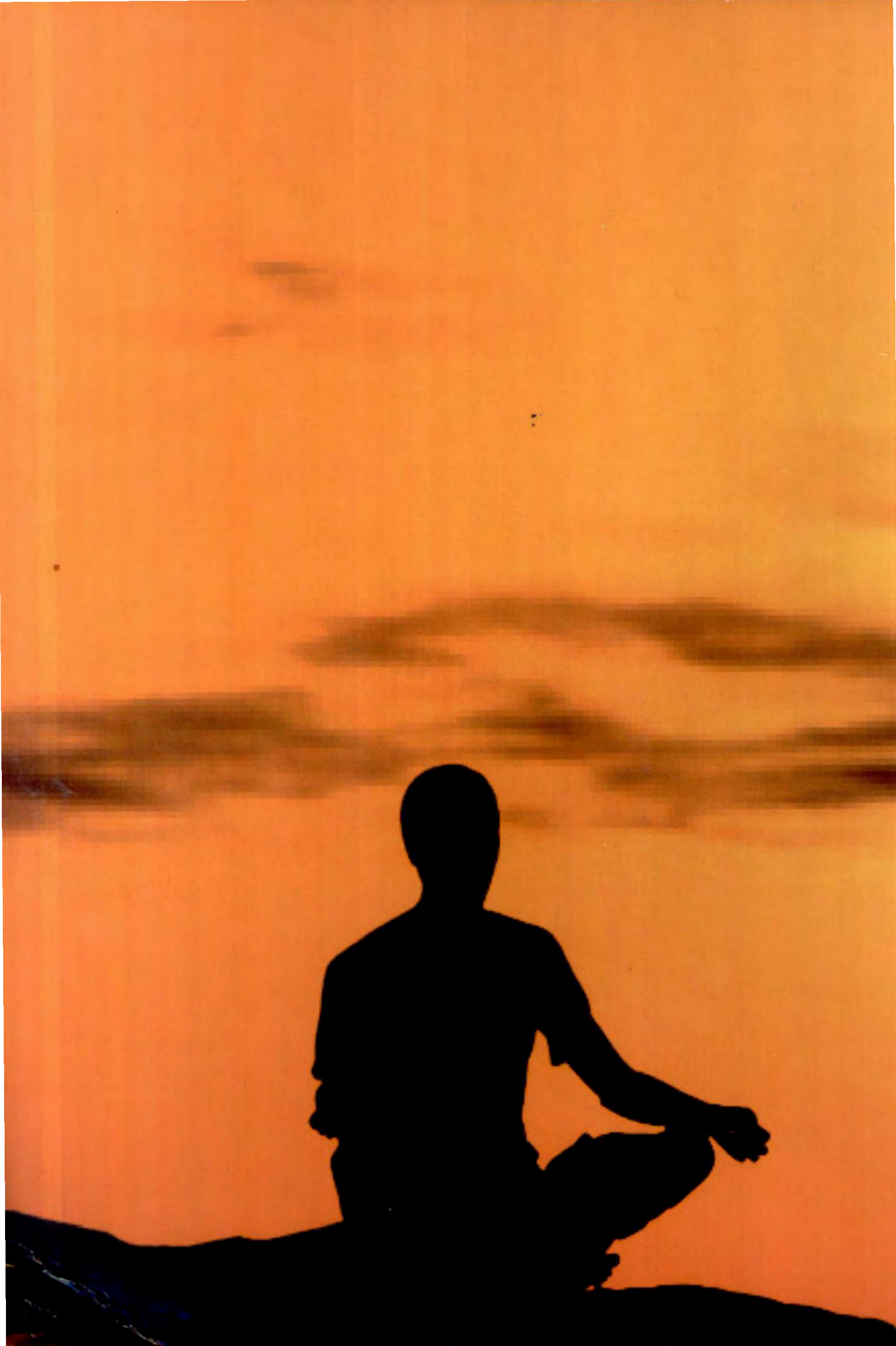

गुरुकुल प्रभात आश्रम, (टीकरी) भोलाझाल, मेरठ